युग और साहित्य

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
इलाहाबाद
१९५०

[द्वितीय संस्करण] [मूल्य ३)]

प्रकाशक
के. मित्रा
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
इलाहाबाद।

मुद्रक
श्री अमलकुमार बसु,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस ब्रांच।

अपनी बात

(प्रथम संस्करण के अवसर पर)

मैंने तो अपनी पिछली पुस्तक 'मरुचरिणी' के साथ ही एक प्रकार से पाठकों से विदा ले ली थी। उस समय अपने जीवन की एकमात्र निधि बहिन कल्पवती देवी के निधन से मैं सर्वस्व-शून्य हो गया था। शिशु के मस्तक पर से माँ का अञ्चल हट जाने से वह जैसा करुण-निरीह हो जाता है, वैसा ही तो मैं भी हो गया था। बहिन के अभाव में पहिली बार मुझे वास्तविकता का बोध हुआ, पहिली बार मैं काव्य की सरलता से समाज की जटिलता के परिचय में आया। किसी जमाने में मैंने भी कविताएँ लिखी हैं ('नीरव' और 'हिमानी'), आँसुओं से सींचकर। आँसुओं की तरलता से ही अपने कण्ठ को आर्द्र कर मैं कुछ गा गया हूँ। किन्तु आज तो आँसू भी सूख गये हैं। आज सोचता हूँ, यदि पृथ्वी पर अपने अस्तित्व को रक्षित रखना है तो अपने और अपनी बहिन के आँसुओं को कुछ शक्ति देनी होगी। इसीलिए एक बार मैं फिर जी उठा।

बहिन का देहावासन जिस निःसहाय स्थिति में हुआ और कृत्रिम मनुष्यता के दानवी आकार में समाज की जिस हृदय-हीनता का कुरूप परिचय मिला, उससे मेरे शिशु-सहज विश्वासों पर वज्रपात हो गया। आज मेरा शैशव बहिन की मृत्यु के साथ

अन्तिम साँस लेकर चिता की लपटों की आँच पा गया है। आज मेरे हृदय के एक पार्श्व में माँ-बहिनों की कोमल संस्कृति है, दूसरे पार्श्व में निःसहाय अश्रुओं की उद्वेलित उत्क्रान्ति।

आज मेरे एक ओर छायावाद और गान्धीवाद है, दूसरी ओर समाजवाद है। मैंने अपनी बहिन के भीतर जिस उज्ज्वल आत्मा का दर्शन किया था, उसी की प्रेरणा से मैं छायावाद (भाव) और गान्धीवाद (संस्कृति) को अपना लेता हूँ। किन्तु वैसी आत्माओं के लिए इस पृथ्वी पर ठौर-ठिकाना नहीं है। उनका जीवन आठ-आठ आँसू रोने के लिए रह गया है, या, सन्तापों से पृथ्वी की छाती फाड़कर सीता की तरह उसी में समा जाने के लिए। जीवन की इस करुण विडम्बना की आवृत्ति पुनः पुनः न हो, इसी लिए मैं युग-धर्म्म के रूप में समाजवाद को भी स्वीकार कर लेता हूँ। हाँ, पहिले मैं छायावाद और गान्धीवाद की ओर अधिक उन्मुख था, क्योंकि तब मैंने उसे बहिन के अभाव में नहीं देखा था। उस समय तक मैं समाज के खोखलेपन से अनजान था, कारण, बहिन ने मेरी शून्यता को अपने वात्सल्य से भर रखा था। उस समय मैं समाजवाद के प्रति केवल सहानुभूति-पूर्ण था, उसके उदार आर्थिक दृष्टिकोण के कारण। आज मैं छायावाद के प्रति सहानुभूतिपूर्ण हूँ, समाजवाद के प्रति अधिक उन्मुख। आज मैं जानता हूँ कि समाजवाद न केवल एक नवीन आर्थिक दृष्टिकोण है, बल्कि उसमें दैनिक जीवन की सम्पूर्ण आकुलताओं का निदान भी है।

हमारा अब तक का शरीर (समाज) एकदम सड़ गया है, जिसके भीतर चेतना पीड़ा से छटपटा रही है। फिर भी उसकी विवर्ण मुखाकृतियों (साहित्य, कला, संगीत, सभ्यता) में ही हम उसके भाव और संस्कृति का सौन्दर्य्य और माधुर्य्य देखने का हृदय-हीन प्रयत्न करते आ रहे हैं, मानों युग-युग की पीड़ा के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। साहित्य और कला के नाम पर एक बहुत बड़ी छलना लेकर हम जीवन का मिथ्या अभिनय कर रहे हैं। अब इस प्रवञ्चना का अन्त होना चाहिए। युग-युग की पीड़ित चेतना को उसके रुग्ण शरीर से मुक्ति देनी चाहिए। उस चेतना का समाजवाद ही कायाकल्प कर सकता है। भावी युग में आत्मा (छायावाद और गांधीवाद) की अभिव्यक्तियाँ (भाव और संस्कृति) भी चेतना का प्रकाश बनकर प्रस्फुटित होती रहेंगी, किन्तु वे समाजवादी मानव के उत्फुल्ल मुखमण्डल पर ही स्वस्थ मुद्राएँ अंकित कर सकेंगी, अभी तो वे मुरझाये मुखों पर फूलों की म्लान छवि जैसी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने युग-द्वन्द्वों और तज्जनित भावी सम्भावनाओं को अपने साहित्य के माध्यम से उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। मैंने 'वादों' से विवाद नहीं किया है, हाँ, वादियों की विडम्बना की ओर संकेत अवश्य किया है। किन्तु मेरा उद्देश्य शुभ है। द्वन्द्व नहीं, ऐक्य; विभाजन नहीं, संयोजन; वैषम्य नहीं, सामञ्जस्य मेरा लक्ष्य है। मैं समन्वय की ओर हूँ, अतएव विवादी स्वर के बजाय संवादी स्वर द्वारा जीवन को

लय में अभिन्नता स्थापित करने का मैंने यत्न किया है। आदर्शवाद-यथार्थवाद, छायावाद-प्रगतिवाद, गान्धीवाद-समाजवाद को परस्पर विभक्त न कर, उन्हें मैंने द्वन्द्व समास बना दिया है।

यह पुस्तक एक प्रकार से हमारे वर्तमान साहित्य का इतिहास है। शैली अब तक के इतिहास-लेखन से भिन्न है। कला की विवेचना इसमें गौण है, जीवन की गति-विधि का निरीक्षण अधिक। इसी लिए पुस्तक का नाम 'युग और साहित्य' है। इसमें 'इतिहास के आलोक' में शीर्षक लेख विस्तृत है, और एक प्रकार से इस पुस्तक का केन्द्रबिन्दु है। इसमें वर्तमान सत्याग्रह (सन् ' ४०) से पूर्व तक की साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक गति-विधियों का निरूपण है। बाद की परिस्थितियों और हलचलों को इस लेख का परिशिष्ट समझना चाहिए, जो कि हमारे सामने प्रत्यक्ष है।

पुस्तक में मैंने विशेष-विशेष प्रतिनिधि साहित्यिकों को ही ग्रहण करने का प्रयत्न किया है।

नये-नये लेखकों और कवियों पर कुछ लिखने की इच्छा नहीं थी, क्योंकि वे अभी उग रहे हैं। फिर भी भविष्य में उनकी प्रतिभा के विकास या ह्रास का संकेत पाने के लिए मैंने उन्हें भी नामांकित कर लिया है। सम्भव है, एकाध नाम छूट गये हों, जिन्हें नये संस्करण में सम्मिलित कर सकूँगा। इसके अतिरिक्त, यत्र-तत्र छापे की जो गलतियाँ हों, सुधी पाठक उन्हें क्षमा-पूर्वक सुधार लेने का कष्ट करें।

अपने जीवन में मैं जिस प्रकार धनाढ्यता से वंचित हूँ उसी प्रकार विद्वत्ता से भी। मेरी शिक्षा-दीक्षा साक्षरता से अधिक नहीं है। अतएव मैं अपने चारों ओर के वातावरण से ही लिखने की प्रेरणा ग्रहण करता हूँ, जो कि मेरे लिए उतना ही सुलभ है जितना कि मेरे चारों ओर का मानुषिक और प्राकृतिक जगत्। जीवित जगत् का अध्ययन ही मेरा मनन-चिन्तन है।

यत्र-तत्र मैंने अँगरेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है, जैसे व्यावहारिक जीवन में सरकारी सिक्कों का उपयोग करता हूँ। जब तक नये सिक्के (हिन्दी शब्द) नहीं बन जाते, मेरे जैसे निर्धनों को उन्हीं परिचित सिक्कों से काम चलाना पड़ेगा। हिन्दी में जिस अनुपात से नवीन साहित्य बन रहा है उस अनुपात से पारिभाषिक शब्द नहीं बन रहे हैं। सम्भव है, राष्ट्रभाषा की स्थापना हो जाने पर पारिभाषिक शब्द हिन्दी में ढलने लगें। किन्तु उसके पूर्व भी अभाव की इस दिशा की ओर साहित्य के अधिकारियों द्वारा कुछ निश्चित प्रयत्न होने की आवश्यकता है, ताकि भावी पीढ़ी को सौकर्य्य प्राप्त हो।

यह पुस्तक मेरे आन्दोलित जीवन की रचना है। भविष्य में मैं कहाँ तक और क्या क्या लिख सकूँगा, स्वयं नहीं जानता। कारण, मेरा स्वास्थ्य, साहित्य में उस दीन, दलित, पीड़ित वर्ग का सूचक है जिसे सदियों से ऊपर उठने का अवसर ही नहीं मिला है। राष्ट्रभाषा के इस युग में मैं तो संयोग से ही साहित्य में

आ गया हूँ और राजनीति में जिस प्रकार निम्नवर्ग भी अपनी एक वाणी पा गया है, इसी प्रकार साहित्य में मैं।

युग अभी नव-निम्माण के स्वप्नों में ही चल रहा है। अभी तो मुझ जैसों की स्थिति उस माता की तरह है जो अपने रक्त-बिन्दुओं से एक सृष्टि को जन्म देकर अपने दुबल कलेवर के लिए सुखाद्य से वञ्चित रह जाती है। सन्तोष इतना ही है कि नवनिर्मित भावी युग नई नई पीढ़ियों को स्वास्थ्य और सौन्दर्य्य से जीवन-मय कर देगा।

लोलार्क कुण्ड,
काशी

शान्तिप्रिय द्विवेदी

अवलोकन

'युग और साहित्य' का यह दूसरा संस्करण है। जिस समय (सन् '४० में) इसका पहिला संस्करण प्रकाशित हुआ था उस समय हमारा देश पराधीन था और संसार में दूसरा महायुद्ध चल रहा था। अब वह युद्ध समाप्त हो गया है (यद्यपि उसके उपसंहार-स्वरूप तीसरे युद्ध की आशङ्का वातावरण में व्याप्त है)। दूसरे युद्ध के बाद साम्राज्यवाद की शक्ति क्षीण हो जाने के कारण गौराङ्ग प्रभुओं ने भारत को स्वतन्त्र कर दिया। जब तक इसका शोषण करना उनके लिए सम्भव था, तब तक वे यहाँ बने रहे; और जब यहाँ उनकी उपस्थिति निरापद नहीं रह सकी तब भारत को स्वतन्त्र करने का अभिनय करके चले गये! अब अदृश्य रहकर छायाग्राहिनी राक्षसी की तरह उनकी मायाविनी शक्ति इस देश का शिकार दूर से करना चाहती है।

वे तो चले गये, लेकिन भारत का अङ्ग-भङ्ग कर इसे विकलाङ्ग और अपने युद्धकालीन शोषण के परिणाम-स्वरूप अन्न-वस्त्र-रहित कङ्काल बना गये। हमारा सौभाग्य लूटने को वे थे, अपना दुर्भाग्य भोगने को हम हैं। अपनी दुर्गति से हम उबर नहीं पा रहे हैं, क्योंकि अकालजन्य परिस्थितियों के कारण हमारी सद्बुद्धि का भी हरण हो गया है; देशव्यापी भ्रष्टाचार इसका

प्रमाण है। गान्धीजी के नेतृत्व में हम राजनीति के भीतर जो एक नैतिक आस्था लेकर चले आ रहे थे वह लुप्त हो गई है। गान्धीजी का देहावसान हमारी ही नैतिक मृत्यु का प्रत्यक्ष रूप था। ऐसा था वह साम्राज्यवाद जिसने आर्थिक शोषण के साथ-साथ हमारा बौद्धिक शोषण भी कर लिया, हमारी अब तक की जागृति को सुषुप्ति बना दिया! निःसन्देह पश्चिमीय राजनीतिज्ञों की कार्यप्रणाली बड़ी दुर्द्धर्ष है।

उधर संसार के अन्य देशों की स्थिति क्या है?—युद्धोपरान्त सभी देशोंमें त्राहि-त्राहि है। फिर भी नयी परिस्थितियोंके अनुसार नवीन रचनात्मक कार्य की अपेक्षा चारों ओर विध्वंसक प्रयत्न किये जा रहे हैं। परिस्थितियाँ बदल गयीं, लेकिन युद्धपूर्व की राजनीति नहीं बदली। पुरानी महाशक्तियाँ अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अन्तिम प्रयास कर रही हैं। तीसरे युद्ध में उनका उन्मूलन होने जा रहा है।

इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अमेरिका और रूस दो विरोधी शक्तियाँ हैं। ये ही भावी विश्व का भाग्य-निर्णय करना चाहती हैं। भारत भी उनकी राजनीति का एक रङ्गमञ्च है। अन्य देशों की तरह यहाँ भी बहुत-सी पार्टियाँ बन गयी हैं जो कि इस कङ्काल-शेष कङ्गाल देश को मरघटकी तेज हवा की तरह खड़खड़ा रही हैं।

दूसरे महायुद्धके बाद भारत की भौगोलिक और राजनीतिक

परिणति कैसी हुई, इसे देखने के लिए हम युद्ध-पूर्व और युद्ध-काल की स्थिति का सिंहावलोकन कर सकते हैं। इस पुस्तक के 'इतिहास के आलोक में' शीर्षक विस्तृत लेख से बीते समय के वातावरण और तपश्चरण का परिचय मिलेगा, आगे भी मिलता रहेगा। नयी घटनाओं की संगति मिलाने में, कारण से कार्य्य और परिणाम को देखने-समझने में इससे मनोवैज्ञानिक सहायता मिलेगी; अतएव यह लेख इस संस्करण में भी अपने स्थान पर ज्यों का त्यों है। इस लेख के विचार आधारपूर्ण हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन की गति-विधि का निरूपण करते हुए मैंने लिखा था, "इस राष्ट्रीय चित्ररेखा में विरोधी रङ्ग ये हैं—(१) साम्प्रदायिक, (२) लिबरल, (३) क्रान्तिकारी, (४) देशी रियासत। असल में ये सब विभिन्न आकृतियों में एक ही प्रकृति के रूपान्तर हैं।"

—दूसरे महायुद्ध के दिनों में इस कथन की सत्यता देखी जा सकती है। गान्धीजी के साथ जब कांग्रेस के प्रायः सभी नेता नजरबन्द हो गये थे, तब उक्त समूह जेल से बाहर थे; अपने-अपने स्वार्थों के लिए युद्ध में बृटिश सरकार को सहयोग दे रहे थे।

अब युद्ध के बाद इन समूहों की गति-विधि हमारे सामने यों है—

जिन लोगों के कारण साम्प्रदायिकता का बोलबाला था उन लोगों ने 'पाकिस्तान' बना कर एक प्रकार से राष्ट्रीय आत्महत्या कर ली।

लिबरल और देशी रियासत हमेशा राजशक्ति के उपासक रहे हैं, अब वे कांग्रेसी शासन (नयी राजशक्ति) के साथ हैं और उसी में विलीन हो रहे हैं।

क्रान्तिकारियों के रूप में यदि हम उस समय के कम्युनिस्टों तथा साम्प्रदायिकता में सम्मिलित आतङ्कवादियों को देखें तो राष्ट्रीय चित्ररेखा में इनका भी स्थान स्पष्ट हो जाता है।

दूसरे महायुद्ध के दिनों में समाजवादी पार्टी सन् '४२ के आन्दोलन का साथ दे रही थी, कम्युनिस्टपार्टी मित्रराष्ट्रों (रूस, बृटेन और अमेरिका) का प्रचार कर रही थी, दोनों में कौन देश-द्रोही थी, इसी के स्पष्टीकरण के लिए मार्क्सवादी कलाकार यशपाल ने 'देशद्रोही' उपन्यास लिखा। वे कुशल लेखक हैं।

द्वितीय महायुद्ध के दिनों में कम्युनिस्ट पार्टी और समाजवादी पार्टी में जो अन्तर था, वह हमारे साहित्य और राष्ट्रीय जीवन में युद्ध के बाद प्रत्यक्ष हुआ। इस पुस्तक के लेखन-काल में समाजवाद और संघवाद (कम्युनिज्म) का पार्थक्य स्पष्ट नहीं हो सका था, अतएव, दोनों के लिए कहीं तो समाजवाद और कहीं नव भौतिकवाद शब्द का प्रयोग करना पड़ा है। प्रगतिवाद शब्द आ चुका था, किन्तु उसका भी रूप स्पष्ट नहीं था। प्रायः संघवाद, समाजवाद, राष्ट्रवाद और प्रगतिवाद पर्य्याय समझे जाते थे। उस समय की स्थिति के अनुसार पुस्तक में समाजवाद इसी व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है। आज समाजवाद

स्पष्टत: कम्युनिज्म से भिन्न है। खेद है कि समाजवाद का कोई सिद्धहस्त कलाकार हमारे साहित्य में नहीं आया।

'युग और साहित्य' के लेखन-काल में जिन व्यक्तिगत परिस्थितियों के भीतर से मुझे गुजरना पड़ा था उनके कारण एक व्यापक असन्तोष मेरे मन में भर गया था। वह असन्तोष 'युग और साहित्य' में समाजवाद का स्वर लेकर प्रकट हुआ। मेरी व्यक्तिगत परिस्थितियों का कारण भी सार्वजनिक था, यह आज के विश्व-सङ्कट से स्पष्ट है; व्यक्ति-व्यक्ति का असन्तोष ही विन्दु से सिन्धु होकर युग का आर्त्तनाद कर रहा है।

देखता हूँ, जो सचमुच सर्वहारा है उसके लिए वास्तव में कहीं कोई सहारा नहीं। सभी पार्टियां स्वार्थ और सत्ता के लिए लालायित हैं। 'युग और साहित्य' के लेखन-काल में ही मैंने सार्वजनिक जीवन के इस कुत्सित रूप को देख लिया था। उसी समय 'इतिहास के आलोक में' लिखा था—"जीवन के संघर्ष का यह युग ही इतना विकराल है कि समाज की सभी दिशाओं के लोग अपने-अपने स्वार्थों की सचेष्टता में राजनीतिक बन गये हैं। राजनीति में अधिक बाढ़ आ जाने पर उसका गँदला रूप......पार्टियों के रूप में ही प्रकट होता है।

......संसार की सभी वस्तुएँ आधुनिकता की ओर बढ़ रही हैं, अतएव आश्चर्य नहीं कि धार्म्मिक ढोंगियों-जैसी मनोवृत्ति ने भी जनता-जनार्दन के सेवाक्षेत्र में आधुनिक संस्करण प्राप्त कर लिया हो।"

जगदाधार परमात्मा से यही प्रार्थना है कि गान्धीजी के बलिदान और उनके पुण्यस्मरण से सबका हृदय निर्मल हो जाय, सबकी गति-मति मनुष्यता की शुभ दिशा पा जाय।

काशी,

१९-२-४९ —लेखक

सूची

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

युग और साहित्य

नख-बिन्दु

आज से कुछ ही वर्ष पहले का संसार बहुत बदल गया है। एक जमाना था जब दुनिया के किसी कोने में कोई परिवर्त्तन होने में वर्षों बीत जाते थे फिर भी कोई अभूतपूर्व परिवर्त्तन नहीं होता था। मोटे तौर से यही देखने में आता रहा कि साम्राज्यों के लिए लड़ाइयाँ होती थीं और एक राजा या बादशाह के बाद कोई दूसरा गद्दी पर बैठ जाता था। इस प्रकार के राज्य-परिवर्त्तन के कारण इतिहास में युगों का लेखा-जोखा नृपतियों के शासनकाल से किया जाता था। शासकों का जीवन-मरण ही इतिहासों का युग-युगान्तर था। इतिहास का यही ढङ्ग १६ वीं शताब्दी तक चला आया है। इसके बाद सचमुच इतिहास में एक परि-वर्त्तन होता है—हम इतिहास का युग-विभाजन कोरमकोर राजाओं के शासन-काल से नहीं, बल्कि शासक जिनके राजा हैं उनकी

उन्नति और अवनति के हिसाब-किताब से करने लगे हैं और देश के शुभचिन्तकों के नाम के साथ युग को ज्ञापित करके (यथा, 'गांधी-युग') इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि इतिहास को देखने का हमारा दृष्टिकोण कितना बदल गया है।

हाँ तो, एक जमाना था जब दुनिया के किसी कोने में युग-परिवर्त्तन होने में सदियाँ बीत जाती थीं। इसका अभिप्राय यह कि परिवर्त्तन तो होते ही थे किन्तु वह परिवर्त्तन, जिससे समाज और जीवन का ढङ्ग बदलता है, मनुष्य विकास की ओर चलता है, दुर्लभ था। कारण, जिनको लेकर समाज और जीवन है उनकी आवाज़ दबी हुई थी, राजसत्ताओं के कोलाहल में उनकी वह दबी आवाज़ क्षीणतम होकर सुनाई पड़ती थी—क्रन्दन के स्वर में। समाज रो रहा था और राजनीति अपने हलवे माँड़े में लगी हुई थी। फलतः हम इतिहास में राज्य-विस्तार तो देखते हैं किन्तु समाज-संस्कार शून्य। किन्तु वह दबी हुई आवाज़, वह क्रन्दन का क्षीण स्वर सर्वथा शून्य में ही लीन नहीं हो गया, वह अपने युग के ज्ञानियों के हृदय पर अङ्कित होता गया। उन ज्ञानियों ने, उन सहृदय सामाजिक श्रोताओं ने जनसाधारण के स्वर को साहित्य की रचना में मुखरित किया, विवेक-पूर्वक।

१९वीं शताब्दी तक इसी प्रकार साहित्य-रचना होती रही। इस साहित्य-रचना में समाज के दूषित अंश भी हैं। विवेकवान्

रचयिताओं द्वारा जहाँ सामाजिक उत्थान के स्वप्न मिले, वहाँ रसिकों द्वारा पतन के भाव भी। एक ओर समाज उच्चवर्गीय (राजविलासी) लोगों के दूषणों को ही जीवन का आनन्द समझ कर उसी में अपनी आत्मा का हनन कर अपने को भुलाता आ रहा था, दूसरी ओर अपनी कमज़ोरियों में भी सत्साहित्य के प्रति वह श्रद्धालु था, क्योंकि गोस्वामी तुलसीदास जैसे साहित्य-स्रष्टा उसके उद्‌बोधक थे।

किन्तु यह प्रगति नहीं थी, यह तो समाज का ढहना-गिरना और उसकी रोक-थाम थी। प्रगति का प्रारम्भ तो होता है १९ वीं शताब्दी के अन्त से ही। सत्साहित्य के प्रति श्रद्धालु होकर भी तब तक समाज अकर्मण्य था। उसकी श्रद्धा रूढ़ि हो गई थी, अतः साहित्य द्वारा प्राप्त आदर्श समाज के जीवन में गतिमान् न होकर कुण्ठित था। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से इसी रूढ़ि एवं अकर्मण्यता के विरुद्ध समाज-सुधारकों द्वारा असन्तोष जगा। यहीं से प्रगति का श्रीगणेश है। समाज-सुधार के आन्दोलन ज़ोर पकड़ते गये और आज हम देखते हैं कि तब से अब तक कितना परिवर्त्तन हो गया है। यदि मध्ययुग का कोई मनुष्य आज के समाज को देख पाये तो वह विस्मय से अवाक् हो जायगा, इसी लिए आज भी जो रूढ़ि-ग्रस्त हैं वे प्रगति के प्रति प्रतिक्रियाशील हैं।

यह नहीं कि १९वीं शतब्दी के अन्त से नवीन राजतन्त्र विगत राजतन्त्रों की अपेक्षा हमारे सामाजिक अभ्युदय के प्रति

अधिक आत्मीय था। सच तो यह है कि हमें अपने सामाजिक उत्थान के लिए अपने ही पैरों पर खड़ा होना पड़ा है। यदि मध्ययुग का राजतन्त्र हमारी सामाजिक उन्नति की ओर से निश्चेष्ट था तो नवीन राजतन्त्र भी निरपेक्ष रहा। कहा जाता है कि नवीन राजतन्त्र ने हमें सामाजिक या धार्मिक उन्नति के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता दी, इसमें हस्तक्षेप करना उसने उचित नहीं समझा। उसकी यह तटस्थ नीति एक प्रकार से अपने लिए एक सुरक्षित निश्चिन्तता थी। मध्ययुग में राजतन्त्रों को जनता की परवाह नहीं थी, वह उनकी लाठी की भैंस थी; उनका आमना-सामना तो समान शक्तियों से ही होता था, फलतः राजशक्तियाँ आपस में ही लड़ती-भिड़ती थीं। किन्तु नवीन राजतन्त्र ने मध्ययुग की राजशक्तियों को पिँजड़े का शेर बना दिया, उनकी ओर से उसे भय नहीं रह गया। रह गई जनता। नवीन राजतन्त्र को अपने देश की नागरिकता-द्वारा जनता की शक्ति का परिचय है, विशेषतः इसलिए भी कि वहाँ जनता द्वारा ही कितनी राजक्रान्तियाँ हो चुकी हैं। फलतः मध्ययुग के विषम शासन-भार से मृतप्राय जनता को कुछ जीवन देकर अपना आभारी बनाना नवीन राजतन्त्र को ठीक जान पड़ा, अतएव वह सामाजिक या धार्मिक स्वतन्त्रता का पृष्ठपोषक बन गया। किन्तु इस सौजन्य (!) में उसका एक अपना भी उपकार था, यह कि जनता सामाजिक या धार्मिक सुधारों में ही अपने को भूली रहे, राजनीति की ओर

उसकी दृष्टि न पड़ने पावे। परन्तु जागृति एकांगिनी नहीं होती वह धीरे धीरे सर्वांगीण हो जाती है। आज हम देखते हैं कि न केवल सामाजिक बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जागृति भी हमारे देश में व्याप्त हो गई है। ऐसे समय में जो साम्प्रदायिक विद्वेष चल रहे हैं उनके द्वारा शासकों की उस शुभेच्छा का भी पर्दाफ़ाश हो गया है जो सामाजिक या धार्मिक स्वतन्त्रता के रूप में प्रदर्शित की गई थी।

जगे हुए आदमी को अन्धड़ और तूफ़ान भी देखने पड़ते हैं, उसे इन सबसे अपनी दृष्टि को स्वच्छ रखकर प्रगति के पथ पर गतिशील होना पड़ता है। अन्धाधुन्ध चलते रहना ही प्रगति नहीं है। आज हमारी जागृति देश के ग्रीष्मकाल (संतप्त काल) की जागृति है, यह एक प्रज्वलित सौभाग्य है। ठंडे मिजाज से ही हम इसका सदुपयोग कर सकते हैं। आँधी और तूफ़ान में स्थितप्रज्ञ होकर ही हम ठीक राह पर चल सकते हैं, अन्यथा गुमराह हो जाने की अधिक आशंका है। मध्ययुग के अनेक दूषणों से हम आज भी युद्ध कर रहे हैं। कहीं प्रगति की झोंक में हम वर्त्तमान युग से भी इतने दूषण न ले लें कि प्रगति के बजाय हमें अपनी गन्दगी से ही पीछा छुड़ाना मुश्किल हो जाय। समाज, साहित्य और राजनीति इन सबको बड़े सजग हृदय से नव-निर्माण देना है, तनिक-सी भूल हमें सदियों पीछे ढकेल सकती है। हमें याद रखना चाहिए कि आज विश्व के

रङ्गमञ्च पर एक-एक दिन में एक-एक शताब्दी बन रही है, उसमें हमें भी अपना भाग्य आजमाना है।

आज की प्रगति में महिलाएँ भी आगे बढ़ी हैं, कर्त्तव्य-क्षेत्र में वे बहुत कुछ पुरुषों के समीप पहुँच गई हैं। सदियों के बाद उन्होंने अपनी शक्ति को पहचाना है। वे चाहें तो अपनी आत्म-चेतना से प्रगति की संरक्षिका बन सकती हैं। वे अपने व्यक्तित्व की शीतलता से उत्तप्त मस्तिष्कों को प्रकृतिस्थ हृदय से सोचने की प्रेरणा दे सकती हैं। युगों तक तो वे परदे में रही हैं, अब परदे से बाहर आ जाने पर भी उनमें वह लज्जा और गतिधीरता तो बनी ही रहनी चाहिए जो बहुत समझ-बूझकर पद-निक्षेप करती है। आज की प्रगति में उन्हें अपनी उसी गतिधीरता को छन्द की तरह नियोजित करना है, ताकि प्रगति स्वच्छन्द होकर दुर्गति में न पड़ जाय।

———

यदि वे फेल हो गईं तो समाजवाद आयेगा। परन्तु गान्धीवाद (आध्यात्मिक समष्टिवाद) कहाँ रहेगा ?

समाजवाद को यह सोचना है कि जैसे किसी देश को स्वाधीनता मिल जाने से ही अर्थ-शोषण का अन्त नहीं हो जाता, वैसे ही अर्थ-सुखी हो जाने पर ही मानव के मनोरथ शान्ति-लाभ नहीं करते। अतएव, मध्ययुग के जीवन में (पुराकाल का) जो आध्यात्मिक आदर्शवाद है, वह व्यर्थ नहीं है। वही हमें आंतरिक शान्ति देगा। मध्ययुग में वह औपचारिक मात्र था, आन्तरिक नहीं; इसी लिए रूढ़ि-निर्वाह में हम उसकी कदर्थना देखते आये हैं। नवीन भूतवाद (समाजवाद) की सार्थकता यह है कि वह मध्ययुग के आध्यात्मिक आदर्श को (जिसका वर्तमान नामकरण 'गान्धीवाद' है) वह नवीन पार्थिव आधार दे जिससे निर्विकल्प होकर मानव-समाज गांधीवाद की ओर उन्मुख हो; एक ओर वैभव और दूसरी ओर दारिद्र्य के कारण वस्तुस्थिति के अज्ञान मे अध्यात्मवाद के नाम पर आत्मिक प्रमाद न करे।

भविष्य का जीवन और साहित्य गान्धीवाद और समाजवाद के संयोग से बनेगा। जैसे द्विवेदी-युग भारतेन्दु-युग का पूरक बना, वैसे ही समाजवाद गान्धीवाद का पूरक बन जायगा। भावी साहित्य में इन दोनों की एकता का युग आयेगा और तदनुकूल उसका नामकरण होगा; या तो युग की प्रवृत्ति-विशेष के आधार पर या युग के व्यक्ति-विशेष के नाम पर।

युगों का आदान

[१]

आज साहित्य के नवीन वातावरण में हम गत युगों की उपेक्षा तो करते ही हैं, साथ ही छायावाद (जो काव्य का श्रेष्ठ दान है), गान्धीवाद (जो ठेठ भारत का सम्बल है), आज ये दोनों भी कालातीत समझे जाने लगे हैं और नवीन उद्बुद्ध पीढ़ियों द्वारा उपेक्षित-से हो रहे हैं। सम्प्रति समाजवाद एक असन्तुष्ट स्वर में अब तक के संसार के प्रति विद्रोह कर उठा है। एक दिन निगुण सन्तों ने संसार को माया कहकर इसके प्रति आध्यात्मिक विद्रोह किया था, आज समाजवाद उसी माया को विकलांग होते देखकर पार्थिव चीत्कार कर उठा है। अवश्य ही समाजवाद के लिए माया—माया नहीं। वह तो माया को अपने मनोनुकूल देखने के लिए क्षुब्ध है। यद्यपि समाजवाद आज का ताज़ा दृष्टिकोण है तथापि परिस्थितियों के संघर्ष और विकास में मनुष्य का दृष्टिकोण कहाँ जाकर केन्द्रित होगा यह अभी नहीं कहा जा सकता। आज तो असन्तोष का प्रखर मध्याह्न है, वातावरण में उष्णता है। स्वस्थ विचारों के लिए सुशीतल हृदय की आवश्यकता है।

प्रत्येक युग दूसरे युग को कुछ देकर जाता है, अन्यथा इतनी बड़ी सृष्टि अस्तित्वहीन होकर कभी ही शून्य में समा जाती। एक

युग दूसरे युग को जो कुछ दे जाता है, उसी के आदान-प्रतिदान से नव-नव युग भविष्य की ओर चलते हैं। इस प्रकार—

भक्ति-काल ने हमारे सहित्य और जोवन को एक दार्शनिक जागरूकता दी है, शृङ्गार-काल ने रसात्मकता, छायावाद ने भाव-विस्तीर्णता। शृङ्गार-काल ने भक्ति-काल से उपासना पाकर उसे सौन्दर्य्य और सङ्गीत का प्रतिदान दिया। फलतः भक्ति-काव्य कृष्ण-काव्य भी बन गया। छायावाद ने शृङ्गार-काल से मधुरता पाकर उसे चेतनता का स्पर्श दे दिया, फलतः शृङ्गार-काव्य विश्वात्म भी हो गया। शायद इसे ही एक साहित्यिक सहयोगी ने 'प्रकृत अध्यात्म' कहा है।

शृङ्गार-काव्य ने भक्ति-काव्य को रूप दिया था, छायावाद ने रूप को जगत्प्राण। भक्ति (निर्गुण) काव्य में केवल चेतना थी, शृङ्गारिक कृष्णकाव्य में केवल रूप। अवश्य ही सूर और मीरा जैसी काव्यात्माओं ने रूप के भीतर आबद्ध चेतना का भी निर्देश किया था, किन्तु सगुण काव्य भी शृङ्गार-काव्य की भाँति ही रूप-प्रधान था। जिन सगुण कवियों ने यथा सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि ने रूप के भीतर अरूप चेतन की स्मृति बनाये रखी, उन्हीं के पुण्य से हिन्दी कविता शृङ्गार-काव्य के साथ ही विलास-जर्जर नहीं हो गई, उसने अपनी चेतना का कला-विकास वर्तमान छाया वाद द्वारा पाया। छायावाद में रूप और अरूप (चेतना) का संयोजन है। शृङ्गार-काव्य में जब कि जड़-सौन्दर्य्य है,

छायावाद में चैतन्य स्वरूप। सगुण काव्य में भी वही चैतन्य स्वरूप है, किन्तु उसका आलम्बन है व्यक्ति—लोकोत्तर व्यक्ति, जब कि छायावाद का आलम्बन है प्रकृति—समस्त सृष्टि। छायावाद निसर्ग के चन्द्रिकाधौत स्पर्श से शृंगार काव्य का शुक्लपक्ष बन गया है। सबसे पहले गोस्वामी तुलसीदास ने 'सियाराममय सब जग जानी' कहकर इस ओर भी एक निर्देश कर दिया था। छायावाद ने जो भाव-विस्तीर्णता दी वह विस्तीर्णता प्रदान करने में छायावादी भी गोस्वामी तुलसीदास की भाँति अपने युग में काव्योत्कर्षक हैं।

निर्गुण ने मुक्त चेतन का बोध दिया, सगुण ने बद्ध चेतन का, शृङ्गार-काव्य ने सौन्दर्य्य-बन्धन का, छायावाद ने दिगन्त सृष्टि का। छायावाद का भाव-जगत् सृष्टि की भाँति विस्तीर्ण होकर भी दिशाओं की भाँति सीमित है। इस प्रकार छायावाद बद्ध-चेतन (सगुण) का ही नवीन परिवर्द्धित संस्करण है, और जब कि पूर्व संस्करण धार्मिक अधिक है यह नवीन संस्करण साहित्यिक। साहित्यिक छटा के कारण इसमें राजसंस्करण का सौन्दर्य्य आ गया है। महात्मा गांधी और कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर जिस प्रकार एक ही सत्य की दो अभिव्यक्तियाँ हैं, उसी प्रकार पूर्वकालीन और वर्तमानकालीन छायावाद भी।

गोस्वामी तुलसीदास के प्रबन्ध-काव्य 'रामचरितमानस' में जो चेतन-स्वरूप है, वही वर्तमान छायावाद के मुक्तक में भी। इस

मुक्तक में गोस्वामीजी की 'विनयपत्रिका' के समान ही एक संगीतमय व्यक्तित्व है। अन्तर यह है कि गोस्वामीजी वैरागी थे, छायावादी अनुरागी हैं। साथ ही एक में प्राचीन कला है, दूसरे में आधुनिक; फलतः दोनों की अनुभूति और अभिव्यक्ति में भी प्रकारान्तर है। दोनों अपने अपने समय के साहित्यिक विकास की शाखाएँ हैं।

[२]

जीवन का यह काव्यरूप निर्विघ्न नहीं चला आया है। गृहस्थ के जीवन में रोग-शोक की भाँति देश में ऐतिहासिक संघर्ष-विघर्ष भी होते आये हैं। जीवन इन आपत्तियों की न तो उपेक्षा कर सका और न उन्हीं को लेकर रुका रहा। उसने कठिन परिस्थितियों का निदान किया और फिर आगे बढ़ा। ऐसा ही आगे भी होगा।

आज जीवन फिर संकट में है। ऐसे कठिन अवसरों पर जीवन जिस प्रकार मरण (बलिदान) के वरण-काल (संघर्ष) के तात्कालिक साहित्य (वीरगाथा, राष्ट्रीय-संगीत इत्यादि) को ग्रहण करता आया है, उसी प्रकार इस समय भी वह ग्रहण कर रहा है। इस आपत्ति-काल में गांधीवाद और समाजवाद सामने हैं। अपने साहित्य में भी हम इनका दर्शन पा रहे हैं। सम्प्रति गांधीवादी और समाजवादी साहित्य ही प्रमुख हो गया है, अन्य साहित्य गौण। कविता, कहानी, निबन्ध सब में इन्हीं वादों के दृष्टिकोण का प्रकाशन हो रहा है। हाँ, प्रेमचन्द जिस प्रकार गांधीवाद

के सफल उपन्यासकार थे, उस प्रकार समाजवाद का भी कोई उपन्यासकार अभी तक हिन्दी में नहीं आया, किन्तु इस दिशा को आबाद करने के लिए तो अभी ज़मीन ही बन रही है, जब कि गांधीवाद के लिये बुद्ध और ईसा के समय से ही बृहत् पृष्ठिका प्राप्त है। उचित भूमि पा जाने पर समाजवादी साहित्य भी नाना रूप में फले-फूलेगा।

ऐसा लगता है कि आज की महार्घता में पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं की संस्कृति और सभ्यता ने अपने अब तक के तत्त्वों का निचोड़ (सत्त) गांधीवाद और समाजवाद के रूप में उपस्थित कर दिया है। हम देखें कि ये सत्त या सत्य हमारे समाज के लिए और समाज के कारण हमारे साहित्य के लिए कहाँ तक जीवनप्रद हैं। यों तो गांधीवाद और समाजवाद की उपयोगिता आँकने के लिए अथवा अब तक के इतिहासों और इतिहासों की सफलता-असफलता को स्पष्ट करने के लिए बृहत् विवरण चाहिए। परन्तु हम अपने वर्त्तमान प्रत्यक्ष जीवन को ही लेकर देखें जिसमें इतिहासों के परिणाम जलवायु की तरह घुले-मिले हैं। पूर्व और पश्चिम की विभिन्न दिशाओं से इतिहासों की विभिन्न धाराएँ बहकर भी वर्तमान के संगम पर एक ही निनाद उठा रही हैं। अब तक हम युद्धक्षेत्र में ही चीत्कार सुनते आये हैं, आज जीवन के पुलिन-पुलिन पर हाहाकार सुनाई पड़ता है। सच तो यह है कि अनवरत संघर्ष ही अब तक का

ऐतिहासिक जीवन रहा है। पहले साम्राज्य लड़ते थे अब उनकी विडम्बनाओं के परिणाम-स्वरूप वर्ग-युद्ध भी सजग हो गया है।

समय-समय पर प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र, न जाने और कौन-कौन से तन्त्र-मन्त्र जनता को सन्तुष्ट करने के लिए सिद्ध किये गये। किन्तु यह सब छलावा था, जनता को भुलाये रखने के लिए। जिस उच्चवर्ग के द्वारा जीवन में विषमता आ गई है, उसके अहंकार-पूर्ण स्वार्थ स्थिर ही रहे, तन्त्र-मन्त्र तो उन स्वार्थों की निश्चिन्त सुरक्षा के लिए मोहक प्रयत्न थे, पुरानी शोषण-नीति के ही नवीन सुलभ संस्करण थे। देवता के मन्दिर में मोहनभोग की तरह जीवन की नियामतें कुछ परिमित मूर्तियों और पंडों के लिए ही सुरक्षित रहती आई हैं, बाकी लोगों को भाग्य और ईश्वर के भरोसे ज़िन्दगी के दिन काटने पड़े हैं। यदि कभी कुछ मिल गया तो ईश्वर की दया, यदि न मिला तो भाग्य की अकृपा अथवा पूर्वजन्म के कर्मों का कुफल! किन्तु ईश्वर, धर्म और भाग्य ऐसे निरंकुश-निर्दय नहीं हैं, जैसे कि समाज के धनीधोरी वर्ग। इनके द्वारा परिचालित समाज जैसा है, ईश्वर, धर्म और भाग्य उसी के परिणाम को प्रतिफलित कर देते हैं। ईश्वर, धर्म्म, भाग्य (अभिशाप और वरदान) सत्य हैं। किन्तु इनके बीच से एक और बड़ा सत्य खो गया है--मानव का परस्पर स्नेह-सहयोग। समाज ने अपनी सहज सहृदयता का स्नेह-सूत्र छिन्न-भिन्न कर दिया है। यदि पीड़ित मानव सुखी नहीं हो पाता तो समझना होगा कि समाज ही ग़लत

है। हमें उसके नवीन नियमन के लिए सचेष्ट होना है। इसी सचेष्टता के लिए समाजवाद सम्प्रति ईश्वर, धर्म और भाग्य का भी विरोधी है, ताकि अकारण की ओर ध्यान न देकर पीड़ित वर्ग वास्तविक कारण की ओर एकाग्र हो। ईश्वर, धर्म और भाग्य के नाम पर ही तो उच्चवर्ग निम्नवर्ग को वास्तविकता की ओर से भुलाये रहा। पीड़ित वर्ग जब इस भुलावे से बाहर आयेगा तभी वह ईश्वर और धर्म की ठीक ठीक उपासना कर सकेगा। अभी तो आध्यात्मिकता और पार्थिवता दोनों ही विडम्बित हैं, उन्हें ठीक रूप देने के लिए ही गांधीवाद और समाजवाद हैं। मैं जब गांधीवाद कहता हूँ तब अपनी माँ-बहिनों के अंचल में पली हुई संस्कृति की याद दिलाता हूँ और जब समाजवाद कहता हूँ तब समूह-विशेष की स्वेच्छा-चारिता से परे जीवन-यात्रा के साधनों के सर्वसुलभ होने की आवाज़ उठाता हूँ।

आज जीवन दुष्काल-पीड़ित है, फलतः हम पग-पग पर अपनी आत्मा को कन्या-विक्रय की भाँति ही बेच बेचकर किसी तरह गुजर-बसर कर रहे हैं। सच तो यह है कि सम्पन्नवर्ग के पैशाचिक सुखों के लिये हम सभी का जीवन वेश्या बन गया है, सौन्दर्य बेचनेवाली वेश्याएँ तो हमारी ढँकी हुई सामाजिक परिस्थितियों की बाहरी साइनबोर्ड मात्र हैं। अब तक का सामाजिक और राज-नैतिक इतिहास युगों की हमारी कुरूपताओं का अलबम है। अब

तक की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के स्पष्टीकरण के लिए मोटी मोटी पोथियों और बड़ी बड़ी गवेषणाओं की उतनी जरूरत नहीं है जितनी अपने सामने के साक्षात् दृष्टान्तों को देख लेने की। समाज में जब तक एक भी वेश्या है और राजनीति में जब तक तनिक भी साम्प्रदायिक विद्वेष है तब तक हमें यही समझना चाहिये कि पैशाचिक समाज और पाशविक राजनीति का अभी युगान्त नहीं हुआ है। वेश्याएँ और साम्प्रदायिक विद्वेषी हमारी प्रगति के पथ में लाल लालटेन हैं। जब तक हम समाज और राजनीति की बुनियादी कमजोरियों को ठीक नहीं कर लेते, तब तक हमें आगे के लिए उन्मुक्त पथ नहीं मिल सकता।

अब तक अज्ञान के वातावरण में साधारण वर्ग दुःख सहता आया है, एक मूढ़ दार्शनिक की तरह; उच्चवर्ग स्वर्गीय सुख प्राप्त करता आया है, एक कूटनीतिज्ञ की तरह। इस मूढ़ता और कूटनीतिज्ञता के बीच मुमूर्षु मानवता का जागरण ही समाजवाद और गान्धीवाद है। समाजवाद ने हमारे दुःखों का वैज्ञानिक कारण बतलाया, उसने हमें सामाजिक विवेक प्रदान किया। गांधीवाद ने ईश्वर, धर्म और भाग्य का समुचित स्वरूप बतलाया, हमें आध्यात्मिक बल प्रदान किया। इस प्रकार गांधीवाद यदि पौराणिक शोधक है तो समाजवाद ऐतिहासिक तत्त्वान्वेषक। गांधीवाद सत्य को उसके मूलरूप (आदर्श) में उपस्थित करता है। समाजवाद उस मूलरूप की ऐतिहासिक विकृतियों (यथार्थ) को प्रकट करता

है। गांधीवाद और समाजवाद अपने अपने दायरे में काव्य और विज्ञान के युग-प्रतिनिधि हैं।

आज जिस प्रकार छायावाद के लिए मार्गावरोध हो गया है, उसी प्रकार गांधीवाद के लिए भी। ये दोनों मानव-हृदय के शाश्वत सत्यों पर निर्भर रहकर भी बाह्य परिस्थितियों को निर्मूल करने में असमर्थ हैं। इनमें आध्यात्मिक ज्ञान है किन्तु मनोविज्ञान नहीं। पिछले युगों का जो संसार चला आ रहा है ये उसी के हर्ष-विषाद के नियोजक हैं। गत युगों का हर्ष हमारा गान बना हुआ है, गत युगों का विषाद ऐतिहासिक अत्याचारों का प्रमाण। आज का पीड़ित संसार जिन युगों के अत्याचारों का परिणाम है उनके गानों पर भी हमारा विश्वास नहीं रह गया है। उन गानों में जीवन का निर्दोष संगीत होते हुए भी नवीन संसार उसमें मृग की भाँति बधिक का ही स्वर सुनता है। अतीत का हर्षोत्फुल्ल गान आज के संसार के लिए बहुत महँगा पड़ा है, उसके मीठे स्वरों पर लक्ष-लक्ष जीवन का बलिदान देना पड़ा है।

जो इतिहास पौराणिक आदर्शों का पैशाचिक रूप बन गया है, जिसने देवताओं के शस्त्र (शास्त्र) लेकर मानव-समाज का बध किया है, आज समाजवाद उसी इतिहास का बाग़ी है। कितनी ही शताब्दियों से हमारे जीवन में जो ऐतिहासिक व्यवधान आ गये हैं, समाजवाद उसी व्यवधान को तिरोधान करना चाहता है।

गांधीवाद इस ऐतिहासिक व्यवधान को बिना पार किये ही 'राम-राज्य' में चला जाना चाहता है। मेरे जैसा पौराणिक संस्कारों में पला हुआ व्यक्ति यह चाहेगा कि 'राम-राज्य' अवश्य स्थापित हो। किन्तु इतिहास बताता है कि सदियों से संसार के ऊपर 'रावण-राज्य' शासन करता आ रहा है—'जिमि दशनन महँ जीभ बेचारी' की तरह निम्नवर्ग के भीतर से जो प्राणी अब भी बचे-खुचे चले आ रहे हैं उन्होंने ही आज समाजवाद के रूप में उस रावण-राज्य के विरुद्ध त्राहि-त्राहि की है। हमारी अब तक की भक्ति, अब तक की कला, अब तक का साहित्य और संगीत, यह सब कुछ रावण-वंशीय है। जिस प्रकार प्रभुता के गर्वीले प्रासादों में निरीह शिशु कंठ भी सुनाई पड़ता है उसी प्रकार उस रावणीय माया-विस्तार में छायावाद, रहस्यवाद का स्वर उन परमहंसों के अन्तःकरण से उद्गीर्ण होता आया है जिन्होंने पृथ्वी पर परमात्मा की प्रजा होकर जन्म लिया, न कि अपनी ऐन्द्रिक दुर्बलताओं में राजशक्तियों से शासित होकर। आज की परिस्थितियों में गांधीवाद भी वही निर्विकार कंठ है। हम उसे प्यार कर सकते हैं, किन्तु साथ ही यह भी नहीं भूलेंगे कि इस कंठ का स्वर अपने में निर्दोष होते हुए भी बहिर्जगत् के ऐतिहासिक वातावरण का व्यतिक्रम नहीं कर सकता; विषैले गैस से घिरे हुए वातावरण में धूपायन अपना सौरभ नहीं बगरा सकता। उस विषाक्त वातावरण को मिटा देना समाजवाद का काम है।

असल बात यह है कि आज का संसार अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के दीर्घकालीन दुरुपयोग का दुष्परिणाम भोग रहा है। 'जग पीड़ित है अति दुख से, जग पीड़ित रे अति सुख से'— यह अति सुख-दुख अर्थ और काम के असन्तुलित उपभोग का परिणाम है। कहीं कंगाली और कामुकता है तो कहीं ऐश्वर्य और विलासिता। समाजवाद का प्रयत्न कुछ इस प्रकार का है कि काम और अर्थ के उपभोग में सब एक समान हों, चाहे वह जिस सीमा पर हो, वह सीमा सबके लिए एक समान हो। उसमें संतुलन है,संयमन नहीं। उसमें मैटर और मीटर है किन्तु यति नहीं, जिसके कारण जीवन का गति-भंग संभव है। गांधी-वाद ही उसे यति का बोध दे सकता है। गांधीवाद जीवन के पद-निक्षेप के लिए संयमन को अपनाता है, यहीं उसकी आध्या-त्मिकता जगती है। समाजवाद का संयम-हीन उपभोग मनुष्य को समान पशुता की ओर ले जा सकता है। अब तक मनुष्य छोटा और बड़ा पशु रहा है, समाजवाद इसी छोटी-बड़ी पशुता को एक सीमा या एक स्तर पर पहुँचा रहा है। साथ ही गांधीवाद का निरा संयम कुछ साधकों का ही श्रेय बन सकता है। दूसरे शब्दों में यों कहें कि समाजवाद और गांधीवाद के पृथक् पृथक् प्रयत्नों के फल-स्वरूप संसार एक क़दम भी आगे नहीं जा सकता। समाजवाद द्वारा पाशव वृत्तियाँ समान उपभोग पायेंगी और गांधीवाद द्वारा साधकों का संसार सदा की भाँति

अलग पड़ा रहेगा, लोक-जीवन में व्याप्त नहीं होगा। आवश्यकता तो यह जान पड़ती है कि समाजवाद और गांधीवाद के सम्मेलन से नवीन संसार का निर्माण हो। अर्थ और काम (भौतिक पहलू) के साथ धर्म और मोक्ष के (आध्यात्मिक पहलू) का योग होने से ही मानवता की परिपूर्ण सृष्टि हो सकेगी। इस प्रकार समाजवाद द्वारा हम पार्थिव उपभोगों को सर्वसुलभ कर सकेंगे और गांधीवाद द्वारा उसे पाशविक नहीं बल्कि मानवीय उपभोग बना सकेंगे। लक्ष्य और उपलक्ष्य की तरह गांधीवाद और समाजवाद को परस्पर सम्बद्ध होना है। जीवन में हम जो यह सम्बद्धता, यह संयोजन चाहते हैं, वही साहित्य में भी। यहाँ उसे हम समाजवाद और गांधीवाद न कहकर यथार्थवाद और आदर्शवाद कहते हैं। इनके संयोजन के बिना अलग अलग वादों का साहित्य कैसा लगता है? देवता और पशु का, मनुष्य का नहीं। मानव-साहित्य दोनों के संयोजन से बनेगा, अर्थात् समाजवाद और गांधीवाद के एकीकरण से।

[३]

आज हमारे सामने दो संसार हैं—एक पौराणिक, दूसरा ऐतिहासिक। पौराणिक जगत् किसी अतीत संगीत की भाँति कहीं बहुत दूर अपनी क्षीण प्रतिध्वनि में विलीन हो रहा है। आकाश तट पर डूबते हुए नक्षत्र जैसी उसकी एक झलक जिसने देख ली है, वह अपने आदर्शों में उसकी दिव्यता और उज्ज्वलता

का स्वप्न देख रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र में महात्मा गांधी और साहित्य-क्षेत्र में कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर वही स्वप्न-द्रष्टा हैं। किन्तु अतीत और भविष्य अगोचर हैं, वर्तमान दृग्गोचर। अतएव हम अपने सामने वर्तमान ऐतिहासिक संसार को ही देख रहे हैं। भूत और भविष्य हमारे विश्वास हैं, परिश्रान्त वास्तविकता के बीच एक स्वप्न-काव्य; किन्तु वर्तमान हमारे जीवन की साँस-साँस में गद्य होकर समाया हुआ है। किसी घटनापूर्ण सनसनीदार नाटक की भाँति वर्तमान हमारे सामने प्रत्यक्ष है–वही प्रतिदिन की हाय-हाय, वही अत्याचार, उत्पात, रागद्वेष, द्वन्द्व-कलह, छीन-झपट, मिह-नत-मज़दूरी, आराम-बेराम। यही है हमारा ऐतिहासिक जीवन। और हम आश्चर्यपूर्वक देख सकते हैं कि ऐतिहासिक जीवन में हमारे साहित्य और समाज ने उन्नति नहीं की है, उसने उन्नति की है अपने पौराणिक जीवन में। श्रीमद्भगवत् गीता, बाइबिल और कुरान आज भी जीवन और साहित्य के प्रेरक हैं। यह दूसरी बात है कि ऐतिहासिक जीवन में हमने इनका दुरुपयोग किया है। इसी लिए तो हमने शुरू ही में कहा है कि ऐतिहासिक काल की नियामतों ने अपने आसुरी स्वार्थों के लिए देवताओं के शस्त्र लेकर मनुष्यों का बध किया है।

मनुष्य स्वप्नों को पाथेय बनाकर ही कठिन जीवनपथ में अग्रसर होता है। पौराणिक समाज ही ऐतिहासिक समाज का पाथेय था, यद्यपि उसने अपने विषैले दाँतों से इस पाथेय को

भी विषाक्त बना लिया। ज्यों ज्यों स्वप्नों का स्वच्छ वायवीय वातावरण विषाक्त होता गया, त्यों त्यों जीवन और साहित्य का ह्रास होता गया, प्रधान होता गया शासन और शस्त्र। इस दिशा में उन्नति करते करते मनुष्य बर्बर जंगली जातियों का शिक्षित राजनैतिक संस्करण हो गया है। ऐसे विकट दुर्द्धर्ष युग में साहित्य और कला का भविष्य क्या है? सचमुच भविष्य ही पूछना पड़ रहा है, वर्तमान तो तिमिराच्छन्न हो गया है। वर्तमान बीभत्स परिस्थितियों में साहित्य और कला दावानल में पुष्पलताओं की भाँति निष्प्रभ हैं। इस समय प्रधान है विज्ञान। विज्ञान के प्राधान्य ने साहित्य के अस्तित्व को स्वप्नवत् कर दिया है। वैज्ञानिक विभीषिकाओं ने जिस युद्धभूमि की रचना कर दी है, उसके निष्कर्ष पर ही साहित्य का भविष्य निर्भर है। सम्प्रति गांधीवाद और समाजवाद ही साहित्य के जीवित दृष्टिकोण हैं, उन आभ्यन्तरिक दूषणों को दूर करने के लिए जिनके बाह्य परिणाम वैज्ञानिक साधनों में राजनीतिक विडम्बनाएँ हैं।

साहित्य और संसार यदि आज युद्ध-वश अवरुद्ध है तो इसके माने यह कि इस समय यह एक स्थायी समस्या के समाधान में लगा हुआ है। गांधीवाद और समाजवाद शाश्वत मानव-जीवन के प्रयत्न हैं। तात्कालिक परिस्थितियाँ उनका मार्गावरोध किये हुए हैं। आज जीवन और मृत्यु के बीच द्वन्द्व चल रहा है। जीवन के विजयी होने पर साहित्य एक प्रशस्त क्षेत्र पा जायगा और तब

इसके प्रत्येक पग (प्रगति) में नवीनता ही नवीनता रहेगी। यदि फिलहाल किसी को वतमान साहित्य नवीनता-विहीन लगता है तो इसके माने यह कि उसने साहित्य को एक सस्ती नवीनता की ही चीज़ समझ रखा है। उस नवीनता का अभिप्राय पुरानी कलाबाज़ी के नये करिश्मे से है। इस रुचि ने जीवन की ऐतिहासिक गम्भीरता में साहित्य पर विचार नहीं किया है।

युद्ध के बाद की पृथ्वी की नई मिट्टी पर जो नई पीढ़ी खड़ी होगी वही ठीक ठीक नये संसार और नये साहित्य की रचना करेगी। भावी पीढ़ी ही अब तक के संसार का सिंहावलोकन कर, सारांश को ग्रहण कर, जीवन और साहित्य का तात्त्विक संदेश देश देश में उद्घोषित करेगी। भविष्य के मंत्रदाता राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक नहीं, बल्कि नवयुवक साहित्यिक होंगे। विश्व की एक प्रजा के नाते जीवन के प्रति मोहासक्त होकर संसार के हानि-लाभ को अपना हानि-लाभ समझ जब वे स्रष्टा बनेंगे, तब प्रजा के ऊपर शासन करनेवाले कोरे शासकों की अपेक्षा वे कहीं अधिक कल्याणकारी होंगे। आज साहित्य पर जैसे राजनीतिक सेन्सर है, उसी प्रकार एक दिन राजनीति पर साहित्यिक सेन्सर हावी होगा। राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों को साहित्यिकों (जीवन के जागरूक प्रतिनिधियों) की मन्त्रणा लेकर चलना पड़ेगा। उस समय एक साहित्यिक का महत्त्व किसी डिक्टेटर या राष्ट्रपति से कहीं अधिक होगा।

भावी साहित्यिक जब जनता में नवीन समाज की रचना करेंगे, तब वे अब तक के परिणामों को देखकर अधिक ठोस रचनाएँ देंगे। उस भावी रचना में आज के साहित्यिकों की कौन कौन सी रूप-रेखाएँ अङ्कित होंगी, यह देखने का सौभाग्य हमें मिले या न मिले, किन्तु हमारा उत्तरदायित्व गुरुतर है, इसमें सन्देह नहीं। हमारी भावी पीढ़ी हमसे भी कुछ पा सके इसकी ओर यदि हम प्रयत्नशील न रहेंगे तो आनेवाला युग कहेगा कि राजनीतिज्ञों की भाँति ही उस युग (आज के वर्तमान युग) के साहित्यिक भी ऐसे-वैसे ही थे।

चाहे समाजवाद हो या गांधीवाद, चाहे राजतन्त्र हो या प्रजातन्त्र, मनुष्य के जीवन में वैयक्तिक रूप से सुख और दुख तो सदैव रहेंगे ही। सुख और दुख के बिना जीवन कैसा? उन्हीं के बीच तो हमें सामाजिकता प्राप्त होती है और उन्हीं के बीच जीवन की साधना जगती है। किन्तु सामूहिक कारणों से उत्पन्न सुख-दुख विषम ज्वर के समान है, वह अस्वाभाविक है। स्वस्थ मनोवेदना जीवन को शक्ति देती है, इञ्जन की अग्नि की तरह; किन्तु यह अस्वस्थ सुख-दुख (जो अब युद्ध के कारण महाज्वर बन गया है) हमें भस्मीभूत किये दे रहा है। इस ज्वराक्रान्त अवस्था को दूर करना होगा। हमारा अब तक का जीवन और साहित्य ऐसी ही अस्वस्थता की कराल छाया में पला है। आज के साहित्य का प्रगतिवादी स्वर इसी अस्वस्थता के प्रति जेहाद है।

जीवन की वर्तमान महार्घता में हम राजनीति की शरण में हैं। सम्प्रति अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए राजनीति को व्यवस्थित करनेमें ही साहित्य संलग्न है। ऐसे समय में हमारे पिछड़े कलाविदों का साहित्य मरघट में बाँसुरी की तान छेड़ने जैसा है। उचित स्थान पर बाँसुरी की तान की भी अपनी एक समाँ है किन्तु जीवन की आसन्न समस्याओं से विमुख हो रणक्षेत्र में यह रासलीला कैसी ?

तो सम्प्रति हम राजनीति की शरण में हैं, किन्तु क्या कभी साहित्यिकों का प्रभुत्व न होगा ? साहित्य क्या राजनीति का अनुगामी ही रहेगा ? उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। बात असल में यह है कि जीवन रह ही नहीं गया है, संसार श्मशान बना हुआ है। जब जीवन ही नहीं तो साहित्य कहाँ ? जीवन ही को जुगाने के लिए हम सम्प्रति राजनीति की शरण में गये हैं; क्योंकि युगों से जीवन उसीके हाथों में बन्धक है। गांधीवाद, समाजवाद अथवा मानववाद उसी बन्धक को छुड़ाने के लिए हैं। साहित्य में जो आदान-प्रदान चलता है वह राजनीति के बन्धन से जीवन के रत्नों को मुक्त कर। हम अब तक के राजनीतिक संसार से अपने जीवन के रत्न लेंगे और उन्हें धारण करने के लिए नवीन शरीर (भावी समाज) देंगे। जीवन के रत्नों (भाव, कला और विज्ञान) में जो दाग (पूँजीवादी अभिशाप) लगे हुए हैं उन्हें ही आज की तीक्ष्ण परिस्थितियाँ परिष्कृत कर रही हैं। इस कठिन परिष्करण से जो अलङ्करण शेष रह जायगा वह निःसन्देह भविष्य के समाज और साहित्य का जीवन-धन होगा।

प्रगति की ओर

हमारे साहित्य में इधर मुक्तक कविताओं की ही प्रचुरता है। गीतिकाव्य के प्रचार ने तो यह सूचित कर दिया है कि वर्तमान युग इतना आक्रांत है कि जीवन के नन्हें नन्हें क्षणों में भाव-बिन्दुओं से ही भावुक समाज अपने तप्त हृदय को छींटे देकर शीतल विश्राम देना चाहता है। कोई ज़माना था जब 'कथासरित्सागर' और 'सहस्ररजनीचरित्र' जैसी सुदीर्घ कहानियाँ अनेक रात्रि-दिवसों तक श्रोताओं के बीच अटूट चला करती थीं। वह साहित्य पौराणिक युग के ठेठ रसिक-समाज का था। ऐतिहासिक मनुष्य-समाज ने भी कला के नये साज में पौराणिक जगत् को महाकाव्यों और खण्डकाव्यों में आदर्शवत् अपनाया। किन्तु ज्यों ज्यों अतीत से हमारा साथ छूटता गया और वर्तमान समस्याओं से मनोवेदन बढ़ता गया त्यों त्यों साहित्य अपने ही युग का दर्पण होकर प्रकट होने लगा। इसी परवर्ती काल में आधुनिक उपन्यास और नाटक प्रकाशित हुए, हमारे यहाँ जिसके प्रमुख साहित्यकार हैं प्रेमचन्द। जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप से वर्तमान युग की सदस्यता स्वीकार नहीं की उन्होंने भी ऐतहासिक अतीत का आधार लेकर परोक्ष रूप से वर्तमान जगत् की भावनाओं का साथ दिया, अर्थात् अपने को

स्थानान्तरित कर दूर से वर्तमान युग को अपनी उपस्थिति दी। ऐसे साहित्यिकों में प्रत्यक्ष जगत् की साधना नहीं थी; मानसिक जगत् में उन्हें अतीत-कल्पना का निर्विघ्न सुख ही अभीष्ट था। हमारे यहाँ प्रसादजी ऐसे ही लोगों में से थे, अपने ऐतिहासिक नाटकों द्वारा। अवश्य ही, बाद में उन्होंने सामाजिक उपन्यास भी लिखे जिससे यह सूचित होता है कि वर्तमान युग अपनी समस्याओं में इतना दग्ध है कि कलाकार का उससे तटस्थ होना सम्भव नहीं रह जाता। यही स्थिति गुप्तजी की भी रही। फलतः वे एकदम पौराणिक काल से अपना प्रारम्भ कर भूतकालीन (मध्यकालीन) और वर्तमानकालीन (असहयोगकालीन) ऐतहासिक जगत् में आये।

हमारे साहित्य की ये बृहत् रचनाएँ द्विवेदी-युग के स्वास्थ्य की देन हैं। परिस्थितियों के कठिन आघात में ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय स्वास्थ्य का ह्रास होता गया त्यों-त्यों कला की रचनाएँ भी संक्षिप्त, साथ ही बूँद में ही बाड़व का दाह होकर प्रकट होने लगीं। उपन्यासों के बजाय छोटी कहानियाँ, महाकाव्यों और खण्ड-काव्यों के बजाय संगीत-कविताएँ, इसी परवर्त्ती युग की सूचक हैं।

नई पीढ़ी के नवयुवकों में से जो अँगरेजी साहित्य के सम्पर्क में आये वे साहित्य-रचना में द्विवेदी-युग से भिन्न हो गये। किन्तु जिनका जीवन ठेठ भारतीय संस्कारों में ही पला वे द्विवेदी-युग के

ही प्रतीक बने रहे। अतएव एकदम नई पीढ़ी में जहाँ हम पन्त, प्रसाद और महादेवी स्कूल के कवि पाते हैं वहाँ गुप्त और हरिऔध के स्कूल के भी।

द्विवेदी-युग का स्वास्थ्य मुख्यतः शारीरिक था। मध्ययुग में ब्रजभाषा के कवियों का स्वास्थ्य भी शारीरिक ही था, इसी लिए उनमें शारीरिक माधुर्य्य प्रकट हुआ द्विवेदी-युग ने परिस्थितियों के निमन्त्रण से उसी शारीरिक स्वास्थ्य के ओज को जागरूक किया जिस प्रकार द्विवेदी-युग मध्ययुग की विपरीत दिशा में चला, उसी प्रकार छायावाद भी द्विवेदी-युग से विपरीत दिशा में। छायावाद ने मानसिक स्वास्थ्य को ग्रहण किया, उसने काव्य के सूक्ष्म भाव-शरीरों की सृष्टि की। मध्ययुग के सन्तों ने भी अपने साहित्य में यही मानसिक स्वास्थ्य दिया था, किन्तु जिस प्रकार द्विवेदी-युग ने शृङ्गार-काव्य के शारीरिक स्वास्थ्य को भिन्न दिशा (राष्ट्रीय और सामाजिक क्षेत्र) में मोड़ दिया, उसी प्रकार छायावाद ने भक्तिकाव्य के मानसिक स्वास्थ्य को विराग की दिशा से अनुराग की दिशा में उन्मुख कर दिया। द्विवेदी युग ने जिस प्रकार भक्ति-युग के मानसिक स्वास्थ्य को भी लिया, (यथा, 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' में) उसी प्रकार छायावाद ने शारीरिक स्वास्थ्य (शारीरिक अभिव्यक्ति) को भी (यथा, 'ग्रन्थि' और 'निशीथ' में)। फिर भी दोनों युगों के काव्यों में यह अन्तर तो है ही कि छायावाद में अन्तःशरीर (मानसिक जगत)

प्रधान है, द्विवेदी-युग में बाह्य शरीर (बहिर्जगत्)। तदनुरूप दोनों की काव्य-सृष्टियों में भी अन्तर है—छायावाद भाव-प्रधान है, द्विवेदी-युग वस्तु-प्रधान।

किन्तु द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के बाद अब हम एक तीसरे युग को देखते हैं, यह है प्रगतिशील-युग, नवजाग्रतयुग। ब्रजभाषा के माधुर्य के परे जिस प्रकार द्विवेदी-युग ओज को लेकर चला, उसी प्रकार छायावाद की मधुरता के परे यह युग पीड़ितों के पौरुष को लेकर चला है। इस तीसरे युग की कविता मनुष्य के अस्तित्व के लिए विकल है, (यथा, पन्त की 'युगवाणी' में)। जिन महार्घताओं के कारण मनुष्य का अस्तित्व दिवालिया हो गया है, उन्हीं के निराकरण के लिए उचित वैज्ञानिक नियोजन वर्तमान साहित्य की मानवीय आकांक्षा है।

हाँ, इस नई आवाज़ में अभी मधुरता नहीं आ पाई है। जिस कराल वास्तविकता के विरुद्ध हमें चीत्कार करना है उसमें वीणा की झंकार सुनी भी नहीं जा सकती। त्रस्त विहंगों का कलरव तो विकल रव ही बन जाता है न! मधुरता के लिए ज़रा प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। जिस छायावाद की मधुरता से हम अब तक परिचित रहे हैं, वह कुछ दिनों या कुछ वर्षों की निष्पत्ति नहीं है, उसके पृष्ठभाग में युगों का ऐतिहासिक समाज है। युगों से रोते-गाते जिन मध्ययुगीय परिस्थितियों में हमारा भाव-जगत निखरता आया है, छायावाद उसी का काव्योत्कर्ष है।

अब तक काव्य के भावमय स्वप्नों में हम इतिहास की वास्तविकता से आँख चुराते रहे हैं। सामाजिक जीवन में हम ऐतिहासिक वास्तविकताओं के भुक्तभोगी रहे और साहित्यिक जीवन में एक मादक विस्मृति में अपने को भुलाते रहे। किन्तु ऐतिहासिक वास्तविकताओं की भुक्ति अब इतनी निदारुण हो गई है कि आज दिशा-दिशा में त्राहि-त्राहि है। जिस भाव-जगत् की मदिरा में हम अपने को भूलते आये हैं, उसी का वास्तविक जगत् आज का विकट विश्व है। जब एक वस्तुजगत् अप्रीतिकर हो जाता है तब उसका भावजगत् भी अरुचिकर हो जाता है। यही हाल अब तक के इतिहास, समाज और साहित्य का हो गया है।

मध्ययुग का संसार ही अपनी उन्नति करता हुआ बीसवीं शताब्दी के वर्तमान साम्राज्यवादी जगत् तक पहुँचा है। यह एक प्रश्न है कि मध्ययुग में ही साहित्य अपने वस्तु-जगत् और काव्य-जगत् के प्रति असन्तुष्ट क्यों नहीं हो गया? इसका उत्तर यह कि तब तक का संसार इतने बृहत् और विकराल रूप में हमारे सामने स्पष्ट नहीं हुआ था। उस समय भी दुःख था, पीड़न था, दलन था, वैषम्य था। जो कुछ भी था उसका ठीक निदान हमने नहीं जाना था, कारण वस्तु स्थिति को ही हमने ठीक-ठीक नहीं जान पाया था। स्थिति के वैषम्य में उस समय राज्य, राज्य के साथ; धर्म, धर्म के साथ लड़ता था। फिर भी स्थिति में अन्तर नहीं पड़ता था। वही शोषण और अरण्य-रोदन बना हुआ था।

किसी ज़माने में एक सामाजिक व्यवस्था बनी थी और धर्म के अनुशासन में परिचालित हुई थी। किन्तु जिस सामाजिक व्यवस्था के नियमन के लिए धर्म अनुशासक बना था वह धर्म तो रूढ़िमात्र रह गया, प्रधान हो गया पूँजीवाद के हाथों में अर्थ। वही अर्थ आज अनर्थ की सीमा पर पहुँच गया है। आज स्थिति यह है कि एक ओर पूँजीवाद द्वारा सुरक्षित लोग तो साहित्य, समाज और राजनीति में अपना वही आलाप अलापते जा रहे हैं, दूसरी ओर जिनके हृदय में पीड़न है, कण्ठ में क्रन्दन है, वे उस पुराने स्वर से अपना स्वर-विच्छेद कर रहे हैं।

हाँ, तो आज कविता में जो नई आवाज़ सुनाई दे रही है वह मधुर नहीं है, उसमें संगीत नहीं है, वह तो गद्य से भी अधिक रूक्ष है। किन्तु यही गद्य जब धीरे धीरे निखरेगा तब उसका संगीत कल के स्वर से कहीं अधिक मर्मभेदक और स्थायी होगा। आज जिसे माधुर्य कहते हैं वह पुराने जमाने का जादू टोना मात्र रह जायगा। अब तक का संगीत तो न जाने कितने काव्यों, खण्डकाव्यों, महाकाव्यों के बाद का सत्त है, सुदीर्घ प्रयासों का निचोड़ है। इसी तरह नई आवाज़ को भी अपनी पूर्ण परिणति तक पहुँचने के लिए समय अपेक्षित है। अभी तो युग की वाणी का गद्य बन रहा है, फिर काव्य बनेगा, तदुपरान्त उसमें संगीत (गीतिकाव्य) भी सुनाइ पड़ेगा। इस प्रकार युग की प्रगति के साथ-साथ वाणी की भी प्रगति होगी ही। फिर निराशा क्यों ?

हिन्दी-कविता में उलट-फेर

जिस प्रकार मध्यकाल की कविता-लता द्विवेदी-युग में देश, काल और साहित्य की नवीन आवश्यकताओं के फलस्वरूप झर गई, उसी प्रकार द्विवेदी-युग की कविता छायावाद के उत्कर्ष पर पहुँचकर फिर नवीन आवश्यकताओं के फल-स्वरूप अतीत होने को है। आज हिन्दी-कविता पुनर्जन्म के लिए विवश है। भाषा की राष्ट्रीय सुबोधता और अभिव्यक्ति की दैनिक स्वाभाविकता, ये दो बातें कविता को नवीन कला-स्वरूप ग्रहण करने के लिए प्रेरित तो कर ही रही हैं, इनके अतिरिक्त एक और बड़ी प्रेरणा भावों के दिशा-परिवर्त्तन की मिल गई है।

हमारा कल तक का संसार मध्ययुग का ही विकास है, यों कहें, वह सम्पन्नवर्ग-द्वारा अनुशासित जीवन का ही अथ-इति है। राजदरबार में जिस प्रकार राजा के सुख-दुख से ही वहाँ के लोग हर्षित-विमर्षित होते रहे हैं, और वह सुख-दुख समूह का न होकर समूह के छत्रपति मात्र का ही रहा है, उसी प्रकार हमारे काव्य में छायावाद के उठान तक जो सुख-दुख चला आया है वह जनता का सुख-दुख न होकर कुछ सीमित व्यक्तियों का राजसी अभ्यास रहा है। राजा के मुकुट की तरह उसमें भी एक कला है, किन्तु

उसमें उस बहुसंख्य मानव-जगत् का यथार्थ नहीं है जहाँ बहनें सेवा-शुश्रूषा के अभाव में मर जाती हैं, भाई माँ के दूध के अभाव में काल-कवलित हो जाते हैं और युवक जीवन के शत शत अभावों से दंशित होकर अकालवृद्ध हो जाते हैं।

अब तक हम भाव पर ज़ोर देते आये हैं, भाव की बारीकियों पर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से भी अधिक सजगता से हमारी आँखें गड़ जाती रही हैं। काश, इसी प्रकार अभावों पर भी हमारी दृष्टि जाती, तब शायद एक का दुःख दूसरे के सुख से छिपा नहीं रहता, तब शायद पृथ्वी पर इतना रौरव-क्रन्दन नहीं सुनाई पड़ता। आज हमें अपने साहित्य के भीतर से ही नवीन मानवता के दृष्टिकोण को स्थापित करना है, क्योंकि अब तक का दृष्टिकोण उसी के द्वारा समाज के स्तर-स्तर में प्रसरित हुआ है।

पुराने संसार से उलाहना यह है कि उसने सम्पन्नवर्ग के तत्त्वावधान में आत्मिक और शारीरिक भाव-सौन्दर्य में अपने को भुला दिया, किन्तु अपनी या जनता की वास्तविक फटी हालत को नहीं देखा। यदि वह जनता की फटी हालत के भीतर से भक्ति और शृंगार को लेकर आता तो उसकी भक्ति और शृंगार में उसके तन-मन की भूख प्यास और भी मर्मभेदी हो जाती। नवीन संसार (अभाव जगत्) इसी फटी हालत के भीतर से जन्म ले रहा है।

मध्ययुग की कविता जिस प्रकार द्विवेदी-युग के लिए आउट-आफ़-डेट थी और जिस प्रकार द्विवेदी-युग की कविता छायावाद के

लिए, उसी प्रकार आज छायावाद भी नूतन संसार के लिए आउट-आफ-डेट होता जा रहा है। हम यह मानते हैं कि कविता कोई ऐसी सामयिक चीज नहीं है जिसका मूल्य केवल तात्कालिक हो। निःसन्देह उसका स्थायी महत्त्व भी है, लेकिन उसका स्थायित्व जीवन के निर्माण पर निर्भर करता है और जीवन का निर्माण इतिहास के परिवर्त्तन पर। अब तक का इतिहास दो खण्डों (शोषक और शोषित) में विभक्त रहा है, अखण्ड जीवन हमें मिला नहीं, इसी लिए हमारे कवि भावजगत् में ही अपने अभाव को विस्मृत करते रहे हैं, प्रत्यक्ष जगत् में वे भी राजा के सामने रङ्क थे अथवा किसी नृपति या धनपति क आश्रित। कहते हैं कि मध्यकाल की कविता दरबारी थी, किन्तु कविता का वह दरबारीपन छायावाद के समय तक भी नहीं मिटा। छायावाद तो उसी प्रकार के अभ्यस्त वातावरण में एक मानसिक स्वप्न है। उसमें राजा और राजकवि नहीं हैं, किन्तु उसमें जो कवि हैं वे उसी मध्यकालीन व्यवस्था से उत्पन्न सुख-दुख के परिणाम हैं। जिस प्रकार विगत कांग्रेसी सरकारें एक पराधीन-स्वतन्त्रता (राजतन्त्री प्रजातन्त्र , का उपभोग कर रही थीं उसी प्रकार छायावादी कवि मध्यकाल के इतिहास से प्रभावित जीवन का रस ले रहे हैं। रस उन्हें मिलता नहीं, अतएव वे हवा (कल्पना) में साँस लेकर अपने को जीवित रहने का धोखा देते हैं। उनकी कल्पना की सार्थकता यह हो सकती है कि जीवन के उत्कर्ष को

कहाँ तक पहुँचना है—यह उनसे सूचित हो। किन्तु वह उत्कर्ष जीवन में मूर्त्त हो, वह स्वप्न पृथ्वी पर साकार हो, इसके लिए भी प्रयत्नशील होना चाहिए। कब तक हम जीवन मे वंचित होकर अपने को काव्य में रक्षित रख सकते हैं! हमें उन ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों को दूर करना होगा जिनके कारण स्वप्न, स्वप्न ही बने हुए हैं। पीड़ित मानव-समुदाय का नवीन प्रयत्न, जनता का नवीन जागरण, उन्हीं विघ्न-बाधाओं को पार करने के लिए है जिनके कारण जीवन हमारे लिए स्वप्न हो गया है। हम कवि से यह आशा नहीं करते कि वह भी राजनीतिक और सामाजिक नेता ही बन जाय (बन सके तो अच्छा), किन्तु उससे हम यह आशा ज़रूर करते हैं कि वह अखण्ड जीवन के लिए प्रयत्नशील मानवता के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर अपने स्वरों को नवीन अभ्यास दे, आत्मप्रवंचना छोड़कर अपने जीवन को नवीन प्रारम्भ दे। आदिम युग से लेकर अब तक का इतिहास और जीवन चाहे जो रहा हो, अब हम इतने लम्बे प्रयोग के बाद फिर से सृष्टि का श्रीगणेश करने जा रहे हैं। कवि को इसमें योग देना होगा, अन्यथा लोग उसकी कल्पनाओं को मिथ्या कहकर उसे पागल तो कहते ही हैं, नवीन सृष्टि में वह सचमुच पागल ही रह जायगा। युगों के बाद आज कवि को यह 'अवसर' मिला है कि वह अपनी कल्पनाओं को नवीन जगत् में मूर्त्तिमान् होते दिखा दे।

हिन्दी-कविता में उलट-फेर

हिन्दी कविता के प्राञ्जलतम कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने (जिन्होंने एक दिन खड़ी बोली की कविता के भाव और भाषा को चरम सौन्दर्य और माधुर्य प्रदान किया था) आज पिछले संसार से निकलकर हमारे साहित्य में नवीन जगत् का काव्य-प्रतिनिधित्व किया है। यह ठीक है कि उनके नवीन काव्य-प्रयत्नों में भाषा और भाव का वह लालित्य नहीं है, किन्तु हम यह क्यों भूल जाते हैं कि वास्तविकता स्वयं इतनी कुरूप है कि जब हम कल्पना के इन्द्रधनुषी आकाश से उतरकर उसे पृथ्वी की मिट्टी की तरह स्पर्श करते हैं तो वह इतनी खुरदुरी लगने लगती है। हमें सौन्दर्य और माधुर्य का फिर से आरम्भ करना है। इसी खुरदुरी वास्तविकता को सुघर बनाना है। अन्यथा हम आकाश में उड़ते-उड़ते थककर जब कभी इस पृथ्वी पर विश्राम लेना चाहेंगे तब हमें उस स्निग्ध विहार के बाद यहाँ के कङ्कड़-पत्थर ही मिलेंगे।

कल्पना के आकाश में वास्तविकता की ओर से आँखें मूँदकर एक कवि ने गाया था—

इन्द्रधनु पर शीश धरकर
बादलों की सेज सुख पर
सो चुका हूँ नींद भर मैं
चंचला को बाहु में भर,
दीप रवि-शशि-तारकों ने
बाहरी कुछ केलि देखी,

देख, पर पाया न कोई
स्वप्न वे सुकुमार, सुन्दर

(बच्चन)

किन्तु आज वही कवि यह क्रन्दन भी कर उठा है—

मेरा तन भूखा, मन भूखा
मेरी फैली युगबाँहों में
मेरा सारा जीवन भूखा!

(बच्चन)

जीवन का यही कंगाल-कंकाल हमारे काल्पनिक रंगीन आवरणों में छिपता आया है। कंकाल को आवरणों में ढाँककर सौन्दर्य नहीं दिया जा सकता। उसकी वास्तविकता को सामने रखकर ही उसे नवजीवन देना होगा।

तो आज हिन्दी-कविता में कला-परिवर्त्तन भी हो रहा है और भाव-परिवर्त्तन भी। कला गीतों की ओर चली गई है और भाव अभाव की ओर। वर्तमान जगत् की हलचलों में हिन्दी कविता के सामने यह प्रश्न है कि अब वह कौन-सा बानक धारण करे? काव्य के सामने इस समय दो संसार हैं-एक पिछला संसार, दूसरा नवीन जाग्रत संसार। पिछले संसार के कवित्व की भाषा और भाव अपने परिपूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच चुके हैं, किन्तु नवीन संसार का कवित्व अभी अपनी वर्णमाला की रचना कर रहा है। एक में रेशमी स्निग्धता है, दूसरे में खद्दर का

खुरदुरापन। हम नहीं कहते कि खद्दर खद्दर ही रहे, उसे भी खादी-सिल्क होना है, उसे भी मानवता के स्वावलम्बी प्रयत्नों की सुषमा उपस्थित करनी है। उसके जीवन का सौंदर्य उसकी काव्य-कला में इतना भव्य हो जाय कि वह पिछली रेशमी कला के लिए भी स्पृहणीय हो। इसके साथ ही उस पिछले संसार की कला को भी अपनी राजसी सजावट छोड़कर जनसाधारण के बानक में आने की जरूरत है। नवीन कला पिछली कला के स्वप्नों को सत्य करे, पिछली कला नवीन कला की जनता को जीवन दे। यों कहें कि नवीन कला पिछली कला को सहज सुबोध बनाकर ग्रहण करे और पिछली कला स्वयं सहज सुबोध होने का प्रयत्न कर नवीन मानवता के स्वर अपनावे। नवीन कला को काव्य-कला के नव विकास का मार्ग छायावाद के भीतर से बनाना है और छायावाद को नवीन भावनाओं का संचयन नवीन कला के संसार से करना है।

छायावाद इस समय गीतों में अपने को गुञ्जारित कर रहा है। यह खुशी की बात है कि गीतिकाव्य सम्प्रति भाषा और भाव की सरलता और सुबोधता की ओर भी अग्रसर हो रहा है। इस दिशा में उसके सामने सूर, तुलसी, कबीर और मीरा का आदर्श है।

सरलता और सुबोधता का अभिप्राय हिन्दुस्तानी भाषा नहीं, बल्कि साहित्यिक भाषा का सहज परिष्कार होना चाहिये। श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी कविताओं में साहित्यिक और हिन्दुस्तानी भाषा का ऐसा मिश्रण किया है कि उसमें दोनों रुचियां

के लिए आकर्षण होते हुए भी कला का परिष्कृत लालित्य नहीं मिलता। श्री प्रभाकर माचवे ने भी 'नवीन' की ही कविताओं से भाषा-प्रेरणा लेकर उसे कुछ निखार दिया है, यों कहें कि उनकी भाषा और शैली का एक नूतन किसलय उपस्थित किया है, जो अपेक्षाकृत सुघर होते हुए भी समतल नहीं है। 'नवीन' और माचवे के गीतों में जो सरलता और स्वाभाविकता है उसे उत्तरोत्तर परिष्कृत होते जाना है। हाँ, 'नवीन' और माचवे के गीतों में ठेठ-संस्कार अधिक है, जो कहीं कहीं काव्य का ग्राम्यदोष भी बन गया है। जरूरत यह है कि प्रान्तीय या ठेठ प्रयोग भाषा में एक सामञ्जस्य बनाये रहें, बेमेल न हो जायँ। सरलता और स्वाभाविकता की दिशा में उर्दू कवि हाफिज़ जालन्धरी तथा वैसे ही एकाध अन्य कवियों के गीत सुबोध काव्य-कला के दृष्टान्त हो सकते हैं। उर्दूप्रभाव की प्रेरणा से नवयुवक कवियों में सर्वश्री बच्चन, नरेन्द्र और सुमन कविता की भाषा को सहज बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। कला की इस नई भूमि पर यह ध्यान रखना होगा कि भाषा और अभिव्यक्ति न तो एकदम सिनेमा के गीतों की सतह पर उतर आयें और न उनमें हिंदुस्तानी भाषा जैसा अनगढ़पन हो। हमें एक मध्यमार्ग से सहज कला की उन्नति करनी है।

इतिहास के आलोक में

[१]

भारत का इतिहास कविता में बन्द होता आया है। कविता ही हमारे लिये सम्पूर्ण साहित्य रही है। यों कहें, हम भाव-लोक के प्राणी रहे हैं, फलत: हमारा जो साहित्य बना वह काव्यमय होकर—उसे चाहे हम दृश्य-काव्य कहें या श्रव्य-काव्य। हमारे स्रष्टा, श्रोता और दर्शक जीवन में भावादर्श को लेकर चले आये हैं। भावमय जीवन और उसका भावमय स्वप्न—यही हमारा आधार और आधेय रहा है। जीवन में भावों की जो अपूर्णता रह जाती थी, उसी की पूर्णता या परितृप्ति हम स्वप्नों (काव्यों) में ग्रहण करते रहे हैं।

दन्तकथाओं और लोकगीतों में जनसाधारण का जो जीवन प्रवाहित होता आया है वही उच्चकोटि के साहित्य में भी। यहाँ

उसे शिक्षितों की कला प्राप्त हो गई है। मनुष्यके आकार-प्रकार की भाँति ही सामाजिक अवस्थानों में विविधता होते हुए भी एक विशेष पौराणिक वातावरण में जीवन समग्रत: एक था, राजा से रङ्क तक एक ही मनोधारा (स्वप्न-प्रवाह) में प्रवाहित थे, फलतः साहित्य भी एक-सा है।

विदेशियों के आगमन के साथ वह पौराणिक वातावरण बदल गया। यों तो पुराण भी प्राचीन इतिहास ही है, किन्तु आज जिस अर्थ में इतिहास अङ्गीकृत है, उसका आरम्भ विदेशियों के आगमन के साथ ही होता है। भिन्नदेशीय जीवन के संघर्षों का परिणाम ही अब इतिहास बन गया है। उस पौराणिक जीवन में भी संघर्ष रहे हैं, या तो पराक्रम के लिये या मानव-संरक्षण के लिये। उन संघर्षों का वातावरण समुद्र की क्षुब्ध तरङ्गों की भाँति ऊपर ही ऊपर दोलायमान होता रहा है, भीतर का जीवन (समाज की आन्तरिक सतह का जीवन) अपनी स्वाभाविक गति से ही संसरण करता रहा है। किन्तु तूफान की भाँति विदेशियों का आगमन जन-समुद्र के बाह्य वातावरण में ही नहीं, सबमेरीन की तरह आन्तरिक सतह में भी हलचल मचा गया। यहीं स्वाभाविक गति से बहते हुए जीवन-प्रवाह को एक अनपेक्षित वास्तविकता का सामना करना पड़ा, मानो भावादर्श को वस्तुसत्य के सम्मुख उपस्थित होना पड़ा। किन्तु भारत के जीवन ने उस वस्तुसत्य को स्वीकार नहीं किया। भाव-

लोक के प्राणियों ने अपनी ही वाणी (कविता) में अपने देश के क्षत्रपों को उस वास्तविकता का सामना करने के लिए उत्साहित किया। उन्हें हम वीरगाथा-काल का कवि कहें या चारण, किन्तु उन्होंने अपने क्षत्रपों के संरक्षण का पूरा-पूरा ऋण-शोध किया। वे अपने समय में उसी साहित्यिक स्थान पर थे जहाँ आज हमारे राष्ट्रीय कवि हैं।

तो, इतिहास रुका नहीं। सामाजिक जीवन में पौराणिक स्वप्न चलते रहे, राजनीतिक जीवन में ऐतिहासिक संघर्ष। यों कहें कि जीवन नहीं बदला था, किन्तु मरण राजनीति द्वारा परिवर्त्तन के पृष्ठ खोल रहा था।

ऐतिहासिक संवर्ष प्रभुत्वों का संघर्ष था। जब संघर्ष चलता है तब समाज जैसे अपने सैनिक भेजता है, वैसे ही साहित्य भी अपने युग-गायक प्रस्तुत करता है। साथ ही जैसे आपत्ति-काल में दैनिक गृह-जीवन भी अपनी गति से चलता रहता है उसी प्रकार लोक-साहित्य भी। फलतः साहित्य में एक ओर वीर-काव्य, दूसरी ओर प्रेम और भक्ति-काव्य के दर्शन होते रहे, ठीक इसी प्रकार जैसे आज राष्ट्रीय-काव्य और छायावाद के।

युग के अनुसार अब तक हमारे काव्य ने तीन स्टेज पार किये हैं—(१) पौराणिक काव्य (मूल जीवन के विश्वासों और भावनाओं से निःसृत काव्य—जिसके अंतर्गत मध्यकालीन प्रेम और भक्ति तथा वर्त्तमानकालीन छायावाद है, जो कि स्थायी

मनोभावों के कारण शाश्वत माने जाते हैं)। (२) वीर-काव्य और (३) राष्ट्रीय काव्य (इनके द्वारा जीवन को परिवर्त्तन की ओर ले जानेवाले इतिहास की सूचना मिलती है)। और अब चौथा स्टेज है समाजवाद, जो कि इतिहासों के भविष्य का नवीन निर्माण चाहता है अथवा इतिहासों के निष्कर्ष का समुचित नियोजन।

जैसा कि ऊपर कहा है, ऐतिहासिक संघर्ष प्रभुत्वों का संघर्ष था। वह राजसत्ताओं को हिला जाता था, किन्तु जनसाधारण का जीवन कुहरे के नीचे ढँके हुए जलाशय की भाँति दैनिक गतिसे बहता जाता था। बीच बीच में जब उसके विश्वासों पर आघात पहुँचता था तब वह (जीवन) अपनी संस्कृति के संरक्षकों का जयजयकार मनाता था। मुग़ल-काल तक यही क्रम चलता रहा।

वीर-काव्य की परम्परा में उस काल में जहाँ भूषण की भीषण वाणी सुनाई देती है, वहाँ शृङ्गारिक कवियों की कोमल-कान्त पदावली भी; जिससे यह सूचित होता है कि जनसाधारण का जीवन और साहित्य बाह्य हलचलों में भी अविचल था। वह धर्मकातर तो था किन्तु उसके दैनिक सामाजिक जीवनमें कोई उद्वेग न था। उस युग का हिन्दू-समाज जीवन और साहित्य में एक अद्भुत काल्पनिक सम्मोहन से बेसुध था। मुस्लिम समाज भी अपने जीवन और साहित्य में ऐसे ही सम्मोहन से बँधा हुआ था। फलतः 'सहस्र-रजनी-चरित्र' नहीं तो क़िस्सा अलिफ़लैला भी बेजाँ नहीं लगा। तूफ़ान और बवंडर (ग़दर और बग़ावत)

आये और चले गये किन्तु साहित्य की वह सम्मोहिनी रुचि नहीं गई, अर्थात् जीवन में वास्तविकता का बोध नहीं हुआ। आश्चर्य है कि देश के भीतर बड़ी से बड़ी उथल-पुथल होने पर भी जीवन के क्रम में परिवर्त्तन नहीं हुआ। वीर और शृङ्गार रस को ही लिये हुए साहित्य चला आया। उस वीर रस द्वारा हम जनता को तो नहीं पढ़ पाते, हाँ राजनीतिक संघर्ष-विघर्षों का आभास अवश्य पा जाते हैं, जब कि आज के राष्ट्रीय काव्यों में राजनीतिक संघर्षों का आभास भी पाते हैं और जनता को पढ़ भी पाते हैं। किन्तु उस युग की जनता को मध्ययुग के शृङ्गार-काव्य और भक्ति काव्य या और आगे बढ़कर अद्भुत कथा-कहानियों में ही हम पढ़ पाते हैं। और वह जनता कैसी ज्ञात होती है ?—भाव-प्रवण एवं कल्पना-प्रिय। उसके साहित्य से ऐसा जान पड़ता है कि उसके दैनिक जीवन में कोई अभाव या दुःख था ही नहीं, सिवा वियोग के।

जब मध्ययुग के इतिहास के साथ साथ वीर-काव्य के आधार भी समाप्त हो गये तब उसी जनता की वही अद्भुत भाव-प्रवण रुचि आधुनिक काल तक एकच्छत्र चली आई और अपने साहित्य में हम उसकी अन्तिम झाँकी पाते हैं स्व० देवकीनन्दन खत्री और स्व० किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में।

[२]

मध्ययुग की जो जनता अपने शासकों को अपने अभाव-अभियोगों का आवेदन-पत्र देती रही है उस जनता के साहित्य में

उसके अभाव अभियोग क्यों नहीं प्रकट हुए? इसके दो कारण हैं। पहली बात तो यह कि जनता और उसके साहित्यकारों ने साहित्य को बहुत सीमित अर्थ में ग्रहण किया था। दूसरी बात यह कि जिस लोक-लाज के कारण हम अपना घरेलू सुख-दुःख अपने पड़ोसी से भी छिपाते हैं, वह भला लिखने-पढ़ने की चीज कैसे हो सकता था। वह जनता अभिजात-वर्गीय जो ठहरी! एक मिथ्या स्वाभिमान हमें अपनी वास्तविक सामाजिक स्थिति के समझने से अज्ञान बनाये हुए था। हम यह नहीं जानते थे कि सबकी स्थिति एक-सी है और सबका एक ही सार्वजनिक कारण है। उस समय जो चीज़ सबमें एक-सी दिखाई पड़ी उसी प्रेम और भक्ति को हमने साहित्य द्वारा सार्वजनिक रूप में उपस्थित किया। और युद्ध तो सार्वजनिक है ही, अतएव वीररस ही सबसे बड़ा सार्वजनिक विषय बनकर हमारे साहित्य में आता रहा।

जैसा कि ऊपर कहा है, हम अपनी वास्तविक सामाजिक स्थिति के समझने में अज्ञान थे। हम अपने दैनिक अभाव-अभियोगों का कारण भाग्य को (दैव को) समझते थे। राजा को सर्व-शक्तिमान् समझ कर उसी को अपनी फ़रियाद सुना अपना कर्त्तव्य पूरा कर लेते थे। हिन्दू-समाज और मुसलिम-समाज दोनों सांस्कृतिक विभेद रखते हुए भी अपने अन्धविश्वासों में एक से ही थे। फलतः उनके भीतर जीवन का वैज्ञानिक दृष्टि-कोण नहीं जगा। जब मुसलमानों को परास्त कर इस देश

में अँगरेज जम गये और उनका शासन सुदृढ़ हो गया, तब उनके व्यावहारिक सम्पर्क से हमारे अन्धविश्वासों को वास्तविकता का आघात लगता गया। फलत: हमारे स्वप्निल जीवन ने वस्तुजगत्‌के प्रकाश में आत्मनिरीक्षण भी प्रारम्भ किया। इसमें सन्देह नहीं कि अँगरेजों के आगमन से हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। हम यह नहीं कहते कि अँगरेज अपने सामाजिक जीवनमें पूर्ण सफल थे,किन्तु उनकी भौतिक सुव्यवस्था ने हमें अपनी सामाजिक अव्यवस्था की ओर जागरूक अवश्य कर दिया। अति व्यावहारिक अँगरेजों को हमारे अति भावादर्श को उचित सीमा में ग्रहण करने की आवश्यकता थी तो हमें भी उनकी अति व्यावहारिकता को परिमित सीमा में। हमारे भीतर से जिनका ध्यान इस ओर गया उन्हें हमारे अन्धविश्वासों में व्यर्थ की सामाजिक क्षतियाँ दिखीं। इस दिशा में हमारे युगद्रष्टा स्वामी दयानन्द और राजा राम-मोहन राय इत्यादि हुए। उनके नवीन सामाजिक उद्‌बोध के फल-स्वरूप नवीन सामाजिक साहित्य बना। अपने यहाँ 'सेवा-सदन' में प्रेमचन्द तथा बंगाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस नवीन सामाजिक चेतना के अग्रदूत हुए। ये अपने अपने साहित्य में मध्यकालीन रोमान्स के उपरान्त के जीवन के साहित्यकार हुए। फिर भी, सामाजिक चेतना का यह प्रारम्भिक काल था।

साहित्य जब जनसाधारणमें फैलना चाहता है तब संगीत द्वारा मार्मिक होकर। अतएव इस नवीन सामाजिक चेतना से उद्गीर्ण धार्मिक भजनों में भी हमारे एक युग का इतिहास है। पादरियों और आर्यसमाजियों के गीत अँगरेजों और भारतीयोंके आरम्भिक सामाजिक सम्पर्क के द्योतक हैं। आर्यसमाजियों ने अँगरेजों के भीतरसे सामाजिक जागृति तो ले ली किन्तु अपने को पादरियों में नहीं मिला दिया। हाँ, पादरियों की तरह वे भी एक सांस्कृतिक प्रचारक होकर हिन्दू समाज की चौकसी में तत्पर हुए। इस नवीन सामाजिक चेतना में हमारा साहित्य तो बदला ही, साथ ही वह काव्यमय ही न रहकर गद्यपूर्ण भी हो गया। फलतः इतिहास भी चारण-काव्य में ही सीमित न रहकर सामाजिक और राष्ट्रीय साहित्य बन कर प्रकट होने लगा। सदा की भाँति काव्य में भी हमारा इतिहास बोलता रहा सारांश होकर।

इस जागृति में हमारे भीतर सामाजिक विवेक जगा अर्थात् अपनी निर्बल रूढ़ियों का हमें बोध हुआ। किन्तु दूसरी ओर हमारी गुलामी की परम्परा चालू थी। राजनैतिक दासता हमें मध्यकाल की अपेक्षा भी अधिक जटिल नाग-पाश में बाँधती जा रही थी। कविवर रवीन्द्रनाथ के शब्दों में—"आर्यों और मुसलमानों ने तो कुछ द्रविड़ और हिन्दू-राजवंशों का राज्याधिकार हटा कर भारतवर्ष में अपना राज्य स्थापित कर दिया होगा, लेकिन फिर भी इतना अवश्य था कि वे लोग इसी देश में और यहीं की

जनतामें बस गये थे और उन लोगों ने जितने बड़े बड़े काम किये थे वे सब इसी देश के निवासियों की पैतृक सम्पत्तियों और कृतियों में सम्मिलित हो गये थे। किन्तु अब तो यहाँ एक ऐसा नवीन और (भारत के लिए) व्यक्तित्व-हीन (अँगरेजी) साम्राज्य स्थापित हो गया था जिसमें शासक लोग हमारे ऊपर तो थे, परन्तु हमारे मध्य में नहीं। वे हमारे देश के मालिक तो बन गये थे, परन्तु वे कभी हमारे देश के नहीं हो सकते थे। इधर भारत का धन जितनी निर्दयता और जितनी अधिक मात्रा में अपहृत किया गया है और जितने भेद-भाव और लड़ाई-झगड़े आजकल आपस में हो रहे हैं उतने आज तक पहले कभी नहीं हुए थे।"

---

[३]

मध्यकालीन सामाजिक निर्बलताओं को दूर करने के लिए स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय द्वारा जो चेतना जगी थी, भारत की प्रथम आधुनिक जागृति उसी ओर एकाग्र हो गई थी। उस ओर विशेष आन्दोलन होते देखकर शासकों का ध्यान भी उधर गया। वहाँ उन्होंने हमारी सदियों की सामाजिक निर्बलता देखी। हमारी उसी दुर्बलता को और भी उकसा देने का काम शासकों ने किया, ताकि सामाजिक दुर्बलताओं से उत्पन्न गृह-युद्ध में लिप्त जनता का ध्यान वास्तविक राष्ट्रीय प्रश्नों की ओर न जाने पाये। महारानी विक्टोरिया की यह घोषणा कि धार्मिक मामलों में भारतवासी स्वतन्त्र हैं, उसमें सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी; यह घोर राजनीतिज्ञता का सूचक है। स्पष्ट है कि जनता धर्म और

मजहब के नाम पर आपस में लड़ती रहे तथा एक दूसरे के प्रति अविश्वासी होकर अपनी सरकार के प्रति विश्वस्त रहे। जिस नीति के द्वारा राजशक्ति ने भारत को अपना क्रीतदास बनाया उसी नीति के द्वारा उसने अपना शासन भी चलाया। और कौन जाने यह दासत्व इसी प्रकार कब तक चलता रहेगा, जब कि हमारी मांस-पेशियों में अभी तक सदियों की जहालत भरी हुई है।

इधर सामाजिक क्षेत्र में जो लोग फारवर्ड हो चुके थे वे राजनीति की ओर बढ़े। ये वे लोग थे जो अँगरेजी सभ्यता और अँगरेजी भाषा में रँगे-चुने थे। सामाजिक चेतना के नाम पर उन्होंने अँगरेजों के दोष ग्रहण कर लिये थे और सभी बातों को अँगरेजी निगाह से देखने के आदी हो गये थे। सामाजिक प्रश्नों को दकियानूसी समझकर राजनीति को ही उन्होंने अँगरेजी खान-पान की भाँति फैशन के रूप में अपनाया। अँगरेज लोग इस देश में एक नये प्रकार का सामाजिक और राजनीतिक आवरण लेकर आये थे। वह आवरण चाहे छद्मावरण ही रहा हो, किन्तु वह हमारे निजी छद्मावरणों को भी समझने का साधन बना। सामाजिक छद्मावरणों को दूर कर सामाजिक विवेक जगाने का प्रारम्भिक प्रयत्न करनेवालों का शुभ नाम ऊपर आ चुका है। किन्तु राजनीति में आनेवालों ने राजनीतिक छद्मावरण का उद्घाटन नहीं किया, करते कैसे, वे तो स्वयं आंग्ल-सभ्यता का आडम्बर ओढ़े हुए थे। इन प्रारम्भिक राजनीतिक नेताओं ने, जिन्हें और जिनके अनुगा-

मियों को आज हम ठीक ठीक लिबरल (या कञ्जर्वेटिव ?) नाम से जानने लगे हैं, कोई सामाजिक प्रगति नहीं की थी, वे तो एकदम मध्यकालीन मनोवृत्तियों के भीतर से आंग्ल सभ्यता में कूद पड़े थे। साधना द्वारा उन्होंने अपना कोई व्यक्तित्व तो बनाया नहीं था, फलतः भारत के लिये शासकों ने अपना जो व्यक्तित्व बना रक्खा था, उसी व्यक्तित्व का गाउन पहन कर अपने देशवासियों के मुक़ाबिले वे एकदम नवीन हो गये। यदि यह गाउन, यह छद्मावरण उन पर से हटा लिया जाय तो हम देखकर अवाक् हो जायँगे कि वे तो मध्यकाल के वही लोग हैं जिनकी विकृतियों के विरुद्ध आधुनिक युग के कर्म्मठ प्रतिनिधि नवीन सामाजिक और राजनीतिक जागृति उत्पन्न करते आ रहे हैं। सम्पूर्ण सामाजिक और राजनीतिक छद्मावरणोंको दूर हटा कर युग-पुरुष गांधी जब राष्ट्रीय नवजागरण का वैतालिक बनकर कर्त्तव्यारूढ़ हुआ तब विदेशी राजनीति का गाउन पहने हुए वे ही मध्ययुगीय महानुभाव अपने पैंतरे बदलकर साम्प्रदायिक रूप में प्रकट हो गये। ये पैंतरेबाज राजनीतिज्ञ हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं। इनके पैम्फ्लेटों और वक्तव्यों में हम आज की भाषा में पुरानी संकीर्ण एवं दूषित मनोवृत्तियों का बीभत्स इतिहास देख सकते हैं।

[४]

तो जहाँ साहित्य में वीर रस और राजनीति में युद्ध ही हमारे सार्वजनिक विषय थे, वहाँ १९वीं शताब्दी से समाज और राष्ट्र

हमारी साहित्यिक और राजनीतिक चर्चा का विषय बन गया। उस प्रारम्भिक जागृति का दर्शन हमें अपने यहाँ भारतेन्दु के साहित्य में मिलता है।

उस समय एक ओर समाज अपने सुधारों में स्वावलम्बी हो रहा था, दूसरी ओर शासन उसे अपनी दासता से ऊपर नहीं उठने देना चाहता था। सामाजिक विवेक कहीं राजनीतिक विवेक भी न प्राप्त कर ले, और जिस गति से सामाजिक विवेक जग रहा था उसे देखते राजनीतिक विवेक के जगते देर नहीं थी, शासक हमारी इस राष्ट्रीय परिस्थिति को खूब समझते थे और समझते क्यों नहीं जब कि उन्हें राजनीति का पूर्ण अनुभव था; उन्होंने बड़ी दूरदर्शिता से लिबरलों को भारत का राजनीतिक नेता मान लिया। उन्होंने सोचा, यही हमारे शासन के हाथ-पाँव हो सकते हैं। अतः जनता जब बहुत बढ़ना चाहे तब उसी के इन अगुओं द्वारा उसे गुमराह कर देने का उन्होंने ठीक साधन पाया। इन्हीं लिबरलों ने 'कांग्रेस' को जन्म दिया। तब की कांग्रेस को हम राजनीतिक 'क्लब' कह सकते हैं, राष्ट्रीय महासभा नहीं। वह लक्ष्यहीन अँगरेज़ीदाँ हिन्दुस्तानी सैलानियों का मजमाँ था। शासन के हिमायती (लिबरल) शासकों की राजनीति द्वारा परिचालित एक गैर-सरकारी संस्था स्थापित कर जनता के नेता बन गये थे। जो बातें सरकार चाहती या कहती थी वही बातें वे भी कहते थे, इस ढंग से मानों वे सरकार से आगे जा

रहे हों। किन्तु उन लिबरलों के भीतर ऐसे हयादार भी थे जो राष्ट्र के प्रति इस विश्वासघात अथवा भारत की राजनीतिक बलि को भीतर ही भीतर महसूस करते थे, किन्तु ज़बान से कह नहीं सकते थे, क्योंकि ज़बान से कहने के लिए जिस आत्मबलिदान की आवश्यकता थी उसकी उन्होंने अपने देश में कल्पना भी नहीं की थी। दूसरे शब्दों में, उनमें स्वयं आत्मबल का अभाव था। उन हयादार लिबरलों में गोखले का नाम आज भी राजनीतिक जगत् में आदर से लिया जाता है। किन्तु जैसे कट्टर सनातन-धर्मियों के बीच में कोई सुधारवादी सामाजिक नेता पहुँच जाय उसी प्रकार उस लिबरल-कांग्रेस के भीतर तिलक पहुँच गये थे। तिलक ने ही कमज़ोर नींव पर खड़ी हुई लिबरल-मनोवृत्ति पर पदाघात कर दिया। देश को तैयार करने के लिए उन्होंने स्वयं ही आत्मबलिदान का प्रारम्भ किया और पूर्ण आत्मबल से कहा—'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।' उस नरम (लिबरल) कांग्रेस के भीतर यह हुङ्कार ही काफ़ी गरम था, फलतः तिलक गरम पार्टी (या देश के निश्छल नवयुवकों) के नेता हुए। इस प्रकार सन् १९१७ के महायुद्ध तक की कांग्रेस में जहाँ लिबरलों द्वारा राजनीतिक क्रीड़न चल रहा था, वहाँ राष्ट्रीय पीड़न का स्वर भी सजग हो गया था। शिक्षित नवयुवकों में जागृति आ गई थी। किन्तु यह राष्ट्रीय स्वर जनता तक नहीं पहुँचा था। कारण, जनता के सामने इस जागृति को आगे बढ़ाने

के लिए कोई कार्यक्रम नहीं बन सका था। हाँ, कांग्रेस के भीतर नेताओं में राजनीतिक संघर्ष चल रहा था तो जनता में सामाजिक संघर्ष। स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय जो सामाजिक जागृति दे गये थे, वह जनता के भीतर पहुँच गई थी। एक ओर कांग्रेस अपने राजनीतिक विचारों को स्थिर करने में लगी हुई थी, दूसरी ओर जनता सामाजिक विचारों को हृदयङ्गम करने में। फलत: सन् १९१७ के महायुद्धतक सामाजिक आन्दोलन जोर पर थे। न जाने कितने धार्मिक वाद-विवाद हुए, न जाने कितनी सामाजिक संथाएँ बनीं। आर्यसमाज और ब्राह्म समाज के बौद्धिक दृष्टिकोणों ने पुराने समाज को हिला-डुला दिया। उसी का परिणाम है कि आज राजनीतिक प्रश्नों के आगे धार्मिक कट्टरताएँ उपहासास्पद लगने लगी हैं, यद्यपि ये संस्थाएँ भी आज राजनीतिक विकास के अनुसार देश-कालानुरूप न होकर कट्टर मिशनरी मात्र रह गई हैं। एक दिन मध्ययुग की जनता को इन्होंने आगे बढ़ाया था किन्तु आज की जनता के लिए वे भी पीछे की चीज़ हो गई हैं।

जैसा कि ऊपर कहा है, तिलक ने कांग्रेस में राष्ट्रीय हुंकार किया। उस हुंकार ने पुरानी कांग्रेस को उसी प्रकार चौंका दिया, जिस प्रकार सामाजिक नेताओं ने पुराने समाज को। तिलक स्वयं व्यक्तिगत रूप से बड़े धार्मिक विद्वान् थे। इसके लिए वे कम विख्यात नहीं। यह एक प्रश्न है कि राजनीति के साथ ही वे

सामाजिक क्षेत्र में भी प्रमुख क्यों नहीं हो गये? बात यह कि तिलक ने ब्रिटिश राजनीति को खूब समझ लिया था। लिबरलों को देखकर ही उन्होंने भाँप लिया था कि यदि हम राजनीतिक क्षेत्र को यों ही छोड़ देते हैं तो सामाजिकता और साम्प्रदायिकता के नाम पर इन्हीं लिबरलों द्वारा राजनीति गृहयुद्ध में परिणत हो जायगी। उस समय देश में राजनीतिक विवेक तो था ही नहीं, यद्यपि सामाजिक विवेक जग चला था। राजनीतिक विवेक के जग जाने पर सामाजिक विवेक गुमराह नहीं हो पाता, अतएव तिलक उस समय राजनीतिक विवेक के ही प्रमुख पण्डित हुए। यदि उस समय राजनीतिक विवेक जगाने का प्रयत्न न होता तो आज राष्ट्रीय प्रश्नों में जो साम्प्रदायिक मसले आ उलझे हैं वे आज के बजाय कल ही हमें उलझन में डाल गये होते, और तब, देश आज जिस राष्ट्रीय सतह तक पहुँचा है वहाँ तक पहुँचने में उसे न जाने कितना पीछे चला जाना पड़ता, तब शायद हम मध्ययुग के क्रुसेड-काल में होते। आज हम जानते हैं कि कांग्रेस के प्रारम्भिक दिनोंमें राष्ट्रीय हितके बजाय आत्महित (महत्त्वाकांक्षा)को ही अपना सर्वस्व बनाकर जो राजनीतिक लीडर जनता के प्रतिनिधि बने हुए थे उनके भीतर कितना पोल था। जब एक सच्चा राष्ट्रीय व्यक्ति (तिलक) उठ खड़ा हुआ, तब वे उसके तेज को सह नहीं सके। भीतर ही भीतर वे अपनी वास्तविकता पर झेंपे अवश्य होंगे, किन्तु तिलक के तेज को तिरोहित करने के लिए वे अपने आपको भी राष्ट्रीय

बाने में उपस्थित करने लगे, होमरूल के हिमायती बनकर। आगे देश जब पूर्णत: जग गया (जिसके इतने जगने की उन्होंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी) तब वे अपना राष्ट्रीय बानक हटाकर पुन: अपने वास्तविक रूप में आ गये और आज उनकी प्रच्छन्न महत्त्वाकांक्षाओं ने साम्प्रदायिकता का कपट कलेवर धारण कर लिया है। कांग्रेस के प्रारम्भ में वे जहाँ थे आज भी वहीं हैं, अन्तर यह है कि तब उनका कपट-रूप पूतना की तरह अन्दर छिपा हुआ था, अब बाहर प्रकट हो गया है। यहाँ हमें यह भी समझ लेना चहिए कि जो लोग राष्ट्रीय क्षेत्र में फेल हो चुके हैं, वे ही लोग साम्प्रदायिक क्षेत्र में चले गये हैं। देर या अबेर साम्प्रदायिक उलझाव तो सामने आने को ही था, किन्तु देर से आने के कारण राजनीतिक विवेक के पूर्णत: जग जाने पर हम उसकी असलियत को खूब समझने लगे हैं, जब कि उस समय हम अपने लक्ष्य को भूलकर राह में ही बुरी तरह गुमराह हो जाते।

उस समय हमारा राष्ट्रीय विरोध सीधे सरकार से था, किन्तु इस समय जब कि सरकार ने अपने राजनीतिक शिष्यों को (हमारे ही भाइयों को) राष्ट्रीय मोर्चे पर लगा दिया है, तब स्वभावत: हमें अपनी राजनीतिक प्रगति को सम्प्रति रोकना पड़ा है; क्योंकि हम आपस में ही नहीं लड़ना चाहते। हम आपस में आदमीयत के नाम पर एक दूसरे को समझना चहते हैं, एक बार

हत्या को जगाना चाहते हैं*। इसी के लिए महात्मा गान्धी को मिस्टर जिन्ना की खुशामद भी करनी पड़ी।

[५]

इस लड़ी को जोड़ने के लिए हम पिछले प्रसंग की शृंखला को फिर देखें। सन्, १७ के महायुद्ध के बाद पंजाब-हत्याकांड से देशव्यापी राष्ट्रीय जागृति आई। देश अभी समग्र रूप से जगा ही था कि सन्, २० में तिलक का देहान्त हो गया। इसके बाद जनता ने राष्ट्र के कर्णधार के रूप में महात्मा गांधी को पाया। पंजाब-हत्याकांड में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही मारे गये थे। युद्ध के पश्चात् भारत की सेवाओं के पुरस्कार के बजाय यह भीषण व्यवहार देश की जागृति में वह काम कर गया जो एक बड़ी क्रान्ति से ही सम्भव था। भारत एकदम बदल गया, उसकी राष्ट्रीय बुभुक्षा तीव्र हो गई। वह बुभुक्षा राष्ट्रीय आवश्यकताओं को समझने और ग्रहण करने के लिए तैयार हो गई। किन्तु तिलक के अभाव में देश नेतृत्व–शून्य था। ठीक मौके पर सन्, २० में महात्मा गांधी असहयोग का सात्त्विक आहार लेकर आये। इसके लिए उन्होंने जनता के सामने रचनात्मक कार्यक्रम रखा। यह कार्यक्रम ऐसा था कि इसके द्वारा जनता न केवल राजनीतिक बल्कि सामाजिक शक्ति भी ग्रहण करती थी। अब

* नवम्बर १९३९ में वायसराय से नेताओं के मिलने के बाद, कांग्रेस ने यही प्रयत्न प्रारम्भ किया।

तक राजनीति एकाङ्गिनी चल रही थी, अब उसके साथ सामाजिक जागृति भी सम्बद्ध हो गई। संकीर्ण साम्प्रदायिक तथा रूढ़िग्रस्त सामाजिक दृष्टिबिन्दु हिन्दमहासागर में बुदबुदों की तरह विलीन हो गये। महात्मा ने जनता के जीवन में प्रवेश किया, उस जनता के जिसके विकास में ही भविष्य का भारत है। जगी हुई जनता व्यावहारिक कार्यक्रम पाकर मूर्तिमान् राष्ट्र बन गई। एक एक बच्चा भारतवर्ष हो गया।

इस समय कवियों ने राष्ट्रीय कविताएँ तो रचीं ही, साधारण जनता ने भी अपने भावोद्गार अपने तर्ज़ के गीतों और पैम्फलेटों में प्रकट किया। सन् २० और सन् ३० के राष्ट्रीय लोकगीतों को यदि हम एकत्र देख सकें* तो उनके द्वारा न केवल सत्याग्रह की राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का परिचय मिलेगा, बल्कि यह भी ज्ञात होगा कि देश किस प्रकार अपने आपको पहचान गया था। वे राष्ट्रीय लोकगीत जनता द्वारा रचित इतिहास का काम दे सकते हैं। हमें वे दिन याद आते हैं जब पंक्ति-बद्ध जलूसों में जनता एक छोर से दूसरे छोर तक राष्ट्रीय गीत गाते हुए चलती थी, उस समय ऐसा

* इन्हें साहित्यिक और राष्ट्रीय स्मृति के लिए शीघ्र एकत्र करने की आवश्यकता है, अन्यथा फिर खोजने पर भी नहीं मिलेंगे। कांग्रेस यदि अपनी इस वाणी-सम्पत्ति के संग्रह की अपील करे तो वह न केवल राष्ट्र को बल्कि राष्ट्रीय साहित्य को भी एक बहुत बड़ी देन दे जायगी।

जान पड़ता था कि समुद्र एक छोर से नवचेतना तरङ्गित होकर दूसरे छोर तक गूँजती चली जा रही है। उस समय आसेतु-हिमाचल एकलक्ष्य-एकस्वर, एकप्राण हो गया था। किन्तु हमारे इस आन्दोलन में ऐसे लोग भी शामिल हो गये थे जो समूह के लक्ष्य की अपेक्षा अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं के लोभ को प्रधान बनाकर आ मिले थे। पाशव दुर्बलताओं के ये प्रतिनिधि सदैव रहे हैं और सदैव रहेंगे। दूध में पानी की तरह इनके मिल जाने पर भी युग का सारग्राही हंस इन्हें छोड़कर आगे बढ़ जाता है।

सन् २० के उस असहयोग-आन्दोलन के समय, क्रान्ति के नाम पर कुछ गुमराह भाइयों ने चौरीचौरा-हत्याकांड कर डाला। वे असहयोगी थे और अहिंसात्मक सत्याग्रह में शामिल थे, फिर भी उन्होंने अपने कृत्य से सत्याग्रह की पवित्रता पर धब्बा लगा दिया, जिससे दुःखी होकर महात्मा ने द्रुतगति से चलते हुए असहयोग-आन्दोलन को एकाएक रोक दिया। इससे सूचित होता है कि महात्मा स्वराज्य चाहता है, अराजकता नहीं। वह राजत्व का सुन्दर सुखद निर्माण चाहता है। उसके निर्माण का साधन भी उतना ही सौम्य है जितना कि उसका लक्ष्य—स्वराज्य (रामराज्य)।

आन्दोलन के स्थगित हो जाने पर देश में स्तब्धता छा गई। इसके बाद महात्मा गांधी देश की मनोवृत्ति को अहिंसात्मक बनाने की साधना में लग गये और विशेष रूप से सामाजिक कार्यक्रम को ही अग्रसर करने लगे। वैसे भी सत्याग्रह को छोड़कर उनके

सभी राष्ट्रीय कार्य सामाजिक थे ही। पराधीन देश के लिए सर्वथा सामाजिक कार्य तो उस गृहस्थी जैसा है जो अपनी सुव्यवस्था में लगे रहने पर भी बाहर से अरक्षित हो। अतः सत्याग्रह ही गृहस्थों की आत्मरक्षा के लिए एक गृहस्थोचित (भद्र) आन्दोलन था। किन्तु गृहस्थों को जैसे कभी कभी अपने मनसूबों को अपने मन में ही समेट लेना पड़ता है उसी प्रकार समय समय पर सत्याग्रह को स्थगित भी कर देना पड़ा है।

सन् ३० के असयोग-आन्दोलन के बाद, आर्डिनन्सों के कारण सत्याग्रह के पुनः स्थगित होने पर, महात्माजीका सन् २० के बादका सामाजिक कार्यक्रम गाँव-गाँव तक फैल गया। तब सरकार को भी अभिनय-स्वरूप ग्रामो-द्वार का उत्साह दिखलाना पड़ा जिसके कारण महात्मा को कहना पड़ा कि सरकार यदि मुझे इस दिशा में सचमुच सहयोग दे तो मैं चमत्कार कर दिखलाऊँ। परन्तु सरकार को तो अपने अभिनय से कांग्रेस (या महात्मा गांधी) की इस दिशा में बढ़ती हुई लोकप्रियता का अवरोध करना था, जैसे राजनीतिक क्षेत्र में अज्ञात समय के लिए उसने सत्याग्रह को अवरुद्ध कर दिया था। सरकार समाज और राजनीति दोनों पर कुठाराघात करने के लिए उतारू हो गई थी, एक प्रकार से वह हमारी अब तक की सम्पूर्ण जागृति को अन्धकार बनकर ग्रस लेना चाहती थी।

सरकार के इस रवैये से उसका रुख स्पष्ट हो गया था। यदि देश का सामना सीधे सरकार से होता तो कोई बात नहीं थी,

शासक और शासित अपने प्रश्नों का आपस में निपटारा कर लेते। किन्तु जैसा कि पहिले कहा गया है, सरकार ने हमारे मुक़ाबिले में हमारे ही भाइयों को मोर्चे पर लाकर खड़ा कर दिया, शासितों के भीतर से ही अपने सिखाये-पढ़ाये लाड़िलों को सार्वजनिक प्रतिद्वन्द्वी बना दिया। इसका सूत्र यह है कि सन् २०के असयोग-आन्दोलन में खिलाफ़त का मसला लेकर मुसलमान भाई भी हमारे साथ आ मिले थे। राष्ट्रीय प्रश्नों के साथ खिलाफत के प्रश्न का क्या तुक था, यह तो समय ने ही उसे 'बेतुका' साबित कर बतला दिया किन्तु उस समय इसी संकीर्ण-प्रश्न को लेकर मुसलमान भी असहयोगी और सत्याग्रही बन गये थे। चौरीचौरा-कांड के बाद महात्मा ने चलती हुई ट्रेन की भाँति सत्याग्रह को एकाएक रोककर जब अपना राष्ट्रीय उद्योग सामाजिक कार्यक्रम की ओर उन्मुख कर दिया तब जिन्हें राष्ट्रीय हिताहित से कोई सरोकार नहीं था, जो केवल अपने हलवे-माँड़े के लिए ही असहयोग-आन्दोलन में शामिल हो गये थे, वे तुरत-फुरत कांग्रेस से छूमन्तर हो गये। यदि राष्ट्रीय आन्दोलन चलता रहता तब भी वे बीच में ही साथ छोड़ देते, उनके स्वार्थों की संकीर्णता अथवा उनकी लालसाओं की चञ्चलता को देखते हुए यह निश्चित था। ऐसे लोग स्पष्ट रूप से साम्प्रदायिक क्षेत्र में चले गये, बाहर से अलग रहकर भीतर से पुराने लिबरलों में मिल गये। सन् २० के असहयोग-आन्दोलन के स्थगित हो जाने पर भारत के नगर-

नगरमें इतने जोर-शोर से साम्प्रदायिक दंगे हुए कि उतने जोर-शोर से असहयोग-आन्दोलन भी नहीं चला था। असहयोग-आन्दोलन तो शताब्दियों की बीती हुई बात लगने लगा था। यहाँ यह स्पष्ट कहना होगा कि इन साम्प्रदायिक दङ्गों के कारण वे ही लोग थे जो असहयोग-आंदोलन के स्थगित होने पर कांग्रेस के प्रभाव से बाहर चले गये थे। इन दङ्गों में एक ओर आर्यसमाज ने भाग लिया, दूसरी ओर खिलाफत आंदोलन के अगुओं ने। इन दङ्गों का आरम्भ हिंदू या मुसलमान किसकी ओर से हुआ?—यह प्रश्न बहुत कुछ इसलिए व्यर्थ हो जाता है कि हिंदू और मुसलमान दोनों ही पराधीनता के अभिशाप से राहु-ग्रस्त हैं, दोनों की बुद्धि का हरण हो गया है। भाग्यवादियों की नियति की भाँति ही इन अभागे साम्प्रदायिकों की हरकतों का सूत्र-सञ्चालन किसी अन्य शक्ति के हाथों में है। ये तो कठपुतले मात्र हैं। इन दङ्गों से न हिंदुओं को कोई लाभ था और न मुसलमानों को। यह तो जमींदार के हाथ में पड़ी हुई जमीन के लिए गुमाश्तों के उकसाने पर दो खेतिहरों की सी लड़ाई थी, जिसमें दोनों ही हानि उठाते हैं, फिर भी जमीन एक तीसरे की बनी रहती है, जब कि परस्पर के स्नेह-सहयोग से जमीन पर उन्हीं का भाई-चारा हो सकता है।

सन् २० के आंदोलन के बाद के उन्हीं साम्प्रदायिक दङ्गों को लक्ष्य कर अपने एक भाषण में स्वामी सत्यदेव ने कहा था कि महात्मा गांधी ने उस समय सत्याग्रह को रोकर अन्यतम राष्ट्रीय

भूल की थी। सत्याग्रह यदि चालू रहता तो उसमें हिंदू-मुसलमानों का सम्मिलित बलिदान परस्पर की एकता को सुदृढ़ कर देता। किंतु यहाँ यह स्मरण दिला देना ठीक होगा कि सन् १७ के महायुद्ध के बाद पञ्जाब-हत्याकांड में हिंदू-मुसलमानों का रक्त एक ही प्रवाह में बहा था। उस क्रूर कांड में दोनों का सम्मिलित बलिदान क्या राष्ट्रीय एकता के लिए कम था? क्या दोनों ने यह स्पष्ट नहीं देख लिया था कि एक तीसरी शक्ति के द्वारा हम भूने गये हैं, उस शक्ति के द्वारा जो न हिंदू की परवाह करता है और न मुसलमान की। इतने साफ़ सबक़ के बाद भी साम्प्रदायिक दंगे क्यों हुए? क्यों हिंदू-मुसलमानों ने परस्पर एक दूसरे को अपना शत्रु समझा? यह सब पराधीनता का अभिशाप है, बिना उससे मुक्त हुए हृदय के विमल लोचन नहीं खुल सकते।

हाँ तो, सन् २० का सत्याग्रह स्थगित कर देने पर भी महात्मा ने अपने सामाजिक कार्यों द्वारा राष्ट्रीय जागृति बनाये रखी। सत्याग्रह स्थगित कर एक प्रकार से महात्मा ने राष्ट्रीय निरीक्षण किया. कौन कितने पानी में है, इसका अंदाज लगाया और आंदोलन के स्थगित-काल में राष्ट्रीय जागृति को यथाशक्ति पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न किया। फलतः सन् ३० में फिर सत्याग्रह-आंदोलन शुरू हुआ, सन् २० की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होकर। इस बार भी मुसलमान इसमें शामिल हुए, किंतु वे मुसलमान बाहर ही

रहे जो पहिले आन्दोलन में खिलाफ़त का मसला लेकर शामिल हुए थे। और मुस्लिम-लीग तो ऐसे राष्ट्रीय आन्दोलन में कभी शामिल हुई ही नहीं थी।

सन् २० से ३० के दस वर्षों में ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत् बहुत कुछ बदल चुका था। साम्प्रदायिक प्रश्न तो दूर, राष्ट्रीय प्रश्न भी एक बड़े पैमाने पर रखकर देखा जाने लगा था। संसार की आधुनिक समस्याएँ और उनका अन्तर्देशी सम्बन्ध नवयुवकों के विचार का दृष्टि-बिन्दु बन गया था। ऐसे नवयुवकों से साम्प्रदायिकता की आशा तो की ही नहीं जा सकती थी, जब कि वे कांग्रेस से भी आगे बढ़ने के लिए उतावले थे। परंतु देश में कांग्रेस के सिवा और कोई प्रगतिशील तथा प्रभावशाली संस्था नहीं थी, अतएव नये दृष्टिबिंदुओं के नवयुवक भी कांग्रेस में ही शामिल हो गये। इन्हीं में वे नवयुवक मुसलमान भी थे, जो सन् २० में मुकुल रहकर सन् ३० में तरुण हुए। इनके अतिरिक्त, इस बार के आन्दोलन में वे मुसलमान भी साथ रहे, जो सन् २० के आन्दोलन में सम्मिलित तो थे, किन्तु उसके स्थगित-काल में सार्वजनिक क्षेत्र से अदृश्य रहे। न तो साम्प्रदायिक दङ्गों में उनका नाम सुनाई पड़ा और न महात्मा के खादी-प्रचार के दौरों में। शायद सामाजिक कार्यों में उन्हें कोई राष्ट्रीयता नहीं दिखाई पड़ी ही क्योंकि खादी को छोड़कर बाक़ी सभी सामाजिक कार्य-क्रम हिन्दुओं की भीतरी बुराइयों को दूर करने के लिए था। यथा,

हरिजनोद्धार, जिसके अभाव में हिन्दू-मुसलमान की भाँति ही हिन्दू-हिन्दू में भी राजनीतिक फूट का बीज फूट पड़ा था जो आगे चलकर गोलमेज़ कान्फ्रेंस में विष-वृक्ष की तरह उगा। फिर भी वे मुसलमान जो सन् २० के बाद सन् ३० में भी राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल हुए, उन्हें बीच के समय में भी महात्मा (राष्ट्रीय प्रतीक) के कार्य-क्षेत्र में कहीं तो दिखाई पड़ना था। जहाँ तक साम्प्रदायिकता-रहित विशुद्ध सामाजिक रचनात्मक कार्यों का प्रश्न है, चाहे वह मुसलमानों से सम्बन्ध रखता हो या हिन्दुओं से, दोनों को इसमें दिलचस्पी लेते रहना होगा। क्योंकि दोनों पड़ोसी हैं और एक की गन्दगी दूसरे के लिए भी गन्दगी है। आगे चलकर राष्ट्रीय एकता को इसी सामाजिक एकता में परिणत हो जाना है, क्योंकि भविष्य का स्वाधीन देश कभी तो अपना सामाजिक राष्ट्रीय जीवन शुरू करेगा। और तब यह सामाजिक जीवन ही मूल राष्ट्रीयता (वास्तविक एकता) होगा।

तो सन् ३० का असहयोग-आंदोलन जोरों से चला, सन् २० की अपेक्षा भी अधिक विराट रूप में। सन् २० के कार्यक्रम में से केवल चर्खा और खद्दर ही सन् ३० के आन्दोलन में शेष रह गया और राष्ट्रीय उद्योग का भी यही विशेष आधारपृष्ठ रहा। चर्खे (सुदर्शन चक्र) के भीतर से निकलकर खद्दर ही भारतमाता के लिए द्रौपदी का दुकूल हो गया। सन् २० का अन्य कार्यक्रम (स्कूलों, कालेजों, कौंसिलों और अदालतों का बहिष्कार) सन् ३०

के आन्दोलन में नहीं रह गया। खादी तो सदा साथ थी ही. इस बार नमक-कानून को तोड़कर सत्याग्रह* शुरू हुआ। सारा राष्ट्र ऐसा जगा कि सन् ३० के उस आन्दोलन को देखकर दूर बैठे हुए लिबरलों को भी दाँतों उँगली दबानी पड़ी। मक्खन जैसे शिशु और रानियों जैसी सुकुमार महिलाएं अपने कोमल करों में कांग्रेस के तिरंगे झंडे लेकर बलिदान के गीत गाने लगीं। घोर तपस्या और कठिन बलिदानों से भी सत्याग्रही नहीं डिगे। जङ्गलों में वे छोड़े गये, जेलों में वे ठूँसे गये, किन्तु जगी हुई चेतना जड़वत् सहिष्णु होकर अपने ध्येय पर डटी रही। इस अखंड महायोग से सरकार विचलित हो गई। उसने लिबरलों को बीच में डालकर कांग्रेस से समझौता करने का प्रयत्न किया। उन्हीं दिनों लन्दन में गोलमेज़ कान्फ्रेंस भी हो रही थी। उसमें सम्मिलित होने के लिए येन-केन-प्रकारेण महात्मा को राज़ी किया गया। गान्धी-इरविन-पैक्ट के अनुसार महात्मा ने गोलमेज कान्फ्रेंस का परिणाम देखने तक के लिए सत्याग्रह को स्थगित किया। महात्मा कांग्रेस की ओर से अकेले ही लन्दन रवाना हुआ मानों स्वयं भारत ही उस वृद्ध शरीर में मूर्त्त होकर गया। और जैसा कि 'एक भारतीय आत्मा' ने उस अवसर पर लिखा था—

*नमक-सत्याग्रह प्रारम्भ करने के लिए महात्मा ने डाँडी की यात्रा की थी।

लन्दन की हाटों में तुझको
अपनी डाँड़ी* का ध्यान रहे।

× +

जा बिदा तुझे चीत्कारों से
स्वागत बलि के उपहारों से।

महात्मा ने वहाँ अपनी टेक राजसी स्वागत के आडम्बरों में भी बनाये रखी।

[६]

आखिर महात्मा लन्दन से निराश लौटा। शासकों का जनता के मन पर तो कोई अधिकार नहीं, किन्तु जो शासन के पायक हैं उनके द्वारा सरकार अपने वैधानिक चक्रव्यूह में जनता के प्रतिनिधियों को भूलभुलैया देने में कुशल है। इसी चक्रव्यूह से दूर रहकर राष्ट्रीय ध्येय को प्राप्त करने के लिए कांग्रेस ने जनता के ही स्वावलम्बन को जगाया है। गोलमेज़ कान्फ्रेंस में हमारे शासक जाग्रत् राष्ट्र को भूल गये और अपने सामने रखा—शतरञ्ज की गोटियों को। शासकों ने वहाँ भी वही चाल चली जो यहाँ भारत में चलते आये हैं अर्थात् उन्होंने साम्प्रदायिक वैषम्य तथा अल्पसंख्यकों के राष्ट्रीय विभेद को महत्त्वपूर्ण बना दिया।

---

*डाँडी—तराज़ू, भारत की माँग का तराज़ू; डाँड़ी-यात्रा जिसका लक्ष्य स्वाधीनता।

लन्दन से लौटता हुआ महात्मा अभी जहाज़ पर ही था कि उसके निराश रुख को समझकर अधिकारियों ने यहाँ फिर धर-पकड़ शुरू कर दी। भारत में पहुँचने के थोड़े ही दिन बाद महात्मा भी बन्दी हो गया। क़रीब-क़रीब सभी प्रमुख राष्ट्रीय नेता बन्दी हो गये थे, उस समय एक तरह से भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन जेलों में दफना दिया गया था, सारा राष्ट्र ही कारावास बन गया था। देश में मायूसी और सन्नाटा छा गया था। किन्तु महात्मा अकर्मण्य तो था नहीं। जिस प्रकार सन् २०के असहयोग आन्दोलन के बाद महात्मा ने सामाजिक कार्यक्रम को हाथ में ले लिया था, उसी प्रकार इस बार जेल से ही उसने सामाजिक अनुष्ठान का पुनः श्रीगणेश कर दिया। जैसे नमक-सत्याग्रह सन्३० के राष्ट्रीय आन्दोलन का प्राण बना, वैसे ही इस बार अछूतोद्धार सामाजिक आन्दोलन का मेरुदण्ड। महात्मा ने जेल के भीतर अपनी जो धूनी रमाई उसकी गन्ध बाहर बड़ी दूर तक फैल गई। शिमला में बड़े-बड़े लक्ष्मीपतियों ने हरिजनों का काम किया। अन्त में हरिजनों के प्रश्न पर आमरण अनशन का प्रण ठान लेने के कारण सरकार ने महात्मा को सही सलामत जेल से छोड़ दिया। महात्मा जेल से बाहर क्या हुआ, मानों बन्दी राष्ट्र ही कारा-मुक्त हुआ। सत्याग्रह बन्द हो गया था, अतः बाहर आकर महात्मा ने हरिजनोद्धार का कार्य ही बड़े पैमाने पर शुरू कर दिया। इस सामाजिक कार्य के राष्ट्रीय पहलू पर कांग्रेस के अन्य नेताओं का

ध्यान कम गया। गोलमेज कान्फ्रेंस में सरकार ने हिन्दू मुसलमानों में जो फूट डाल दी थी, वही फूट हरिजनों का मसला लेकर हिन्दुओं में भी। एक प्रकार से राष्ट्र की आकांक्षाओं को उसने बेड़ी-दर-बेड़ी पहना दी। था तो यह सामाजिक मसला, किन्तु इनमें से किसी भी एक बेड़ी को तोड़ना राष्ट्रीय स्वाधीनता की ओर ही बढ़ना था। राष्ट्रीय क्षेत्र में हिन्दू मुसलमानों के वैषम्य को दूर करने का प्रयत्न तो अरसे से चला ही आ रहा था, अब हरिजनों के प्रश्न को लेकर महात्मा ने एक अन्दरूनी बेड़ी को भी झटका दे दिया। यह बेड़ी अभी तक टूट नहीं सकी है, ठीक उसी प्रकार जैसे हिन्दू-मुसलमानों की विषमता की कड़ी। यदि टूट ही जाती तो आज इतना रोना ही क्यों रह जाता, स्वाधीनता में कसर ही क्या रह जाती। जिनके स्वार्थ विषमताओं में ही पलते हैं उन्हें अपना 'पंच' बनाकर सरकार हमारी बेड़ियों को ढीली नहीं होने देती। उन्हें गुरुमन्त्र देकर वह हमारी बेड़ियों को और भी कसती जाती है और स्वयं तटस्थ रहकर हमें आपस में ही निपटारा कर लेने की चुनौती देती है। खैर, पराधीनता का यह अभिशाप तो हमें झेलना ही है, जब तक झेलें।

[७]

सन् ३० के आन्दोलन के बन्द हो जाने पर जब देश के सामने पुनः कोई कार्यक्रम नहीं रह गया, तब सोचा गया कि विधान की दुहाई देनेवालों की आँखें खोलने के लिए एक बार वैधानिक

ढङ्ग से भी राष्ट्रीय प्रयत्न कर लिया जाय। गोलमेज़ कान्फ्रेंस ने प्रान्तों को स्वायत्त शासन देकर पुराने विधान-प्रेमियों की दृष्टि में मानों काफ़ी उदारता प्रदान कर दी थी। इस वैधानिक चक्रव्यूह के भेदन के लिए भी कांग्रेस महात्मा की सहमति से तैयार हो गई, यद्यपि हरिजनों और हिन्दू-मुसलमानों के पृथक् निर्वाचन के रूप में सरकार ने अपनी माया को स्पष्ट कर दिया था। किन्तु कांग्रेस का लक्ष्य विधान को कार्यान्वित करना नहीं बल्कि वैधानिक चक्रव्यूह को तोड़ना था। अब तक हम बाहर लड़ते थे, इस बार गढ़ के भीतर प्रवेश कर उसकी नींव को हिला देने की बात सोची गई। जो राष्ट्रीय-कार्यक्रम जनता के स्वावलम्बन से चलाया जा रहा था उसे वैधानिक साधनों से भी चलाने का उपाय सोचा गया। कांग्रेस कौंसिलों के चुनाव में खड़ी हुई और आठ प्रांतों में कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हो गई। अब तक सरकारी हानि-लाभ को सामने रखकर प्रान्तीय शासन चलता था, अब राष्ट्रीय हानि-लाभ का ध्यान रखकर कांग्रेसी सरकारों ने अपने थोड़े से वित्त में बहुत कुछ करने का हौसला किया। यों कहें कि पहिले का शासन खुदग़र्ज़ था तो कांग्रेसी शासन लोक-हितैषी। जिन मदों से (यथा, शराबखोरी इत्यादि) सरकार को काफ़ी आमदनी हो सकती थी उन्हें भी बंद कर कांग्रेसी सरकारों ने शिक्षा,ग्राम-सुधार और उद्योग-धंधों की ओर राष्ट्रीय क़दम बढ़ाया।

उनके कार्यों की प्रशंसा बृटिश अधिकारियों ने भी की, किन्तु अपने ही भाइयों ने खूब भर्त्सना की। हमारे ये वे भाई थे जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में हमारा साथ दिया था। किन्तु अपनी ही सरकार स्थापित होनेपर उन्होंने वह रवैया अख्तियार किया जिसकी सम्भावना लिबरलों द्वारा ही की जा सकती थी अथवा नौकरशाही के किराये के पिट्ठुओं से। अवश्य ही बृटिश सरकार की ओर से न बोलकर वे राष्ट्र की ओर से बोलने का दम भरते थे, किन्तु उनकी मनोवृत्ति लिबरलों की तरह ही आक्रमणात्मक थी। अपने सुन्दर शब्दों में यह विरोधी दल 'प्रगतिशील' कहलाता आया है और यह वह दल है जिसके पास कोई कार्यक्रम नहीं किन्तु क्रान्ति है। मुझे पूरे शब्द याद नहीं किन्तु यह याद है कि कांग्रेसी सरकारों के समय में बिहार में अन्धाधुन्ध किसान-आंदोलन के समाचार पढ़कर एक अँगरेज ने एक बृटिश अधिकारी को लिखा था कि अमुक व्यक्ति (बिहार के एक प्रमुख किसान-आन्दोलक) को प्रोत्साहन दो। उसके द्वारा कांग्रेसी सरकारों की बदनामी में सहायता मिलेगी। वह एक प्रकार से हम लोगों का सहायक है।

यदि यह बात ठीक है तो क्या वे आन्दोलक राष्ट्र के शुभेच्छु थे? उन्होंने जिस भद्दे ढङ्ग से कांग्रेस और कांग्रेसी सरकारों का विरोध शुरू किया, उसे देखते यह ज्ञात होता है कि वे जनहित के उतने उतावले नहीं थे जितने कि लीडरी लूट लेने के लिए।

अस्तु।

[८]

सन् १९३९ के अक्टूबर में फिर यूरोपीय युद्ध छिड़ गया। ऐसे ही समय उक्त दल के हिमायतियों ने जोर दिया कि इस बार फिर आन्दोलन शुरू कर देना चाहिए, स्वतन्त्रता लेने का ठीक यही समय है। कांग्रेस ने भी समय की गम्भीरता को महसूस किया, साथ ही उसने जल्दबाजी के बजाय स्थिति का ठीक ठीक निदान कर लेना उचित समझा। इस बार के युद्ध में ब्रिटेन पौलैन्ड की स्वतन्त्रता के मसले को लेकर कूदा। स्वयं साम्राज्यवादी होते हुए भी उसने यह घोषणा की कि वह खतरे में पड़े हुए राष्ट्रोंकी स्वतंत्रता के लिए लड़ रहा है। कांग्रेस ने कहा कि सरकार अपनी नीति स्पष्ट करे, यदि वह स्वतन्त्रता के लिए ही लड़ रही है तो भारत को पराधीन रखकर वह उससे सहायता की आशा कैसे कर सकती है? कांग्रेस की जिज्ञासा पर तत्कालीन भारत-मन्त्री लार्ड जेटलैण्ड ने अपना जो वक्तव्य दिया उससे कांग्रेस को असन्तोष हुआ, उसे लगा कि यह वक्तव्य सदियों पुरानी साम्राज्यवादी भाषा में दिया गया है। मनोवृत्ति में कोई परिवर्त्तन न देखकर कांग्रेस ने कांग्रेसी सरकारोंसे इस्तीफा दिला दिया। यह सरकार के साथ असहयोग का पुनः प्रारम्भ हुआ। इसके बाद वायसराय लिनलिथगो ने सलाह-मशविरा के लिए महात्मा गांधी और राजेन्द्रबाबू(तत्कालीनराष्ट्रपति) के अतिरिक्त देश के अन्य दलों के नेताओं को भी निमन्त्रित किया, मानो राष्ट्र इतने लोगों में विभक्त हो। राष्ट्रीय दृष्टि से विभक्त

न होते हुए भी नौकरशाही की दृष्टि से विभक्त तो था ही। इस अवसर पर अम्बेडकर (हरिजन) भी बोले, जिन्ना (मुस्लिम) भी बोले, बिलकुल उसी प्रकार जैसे गोलमेज़ कान्फ्रेंस में ये साम्प्रदायिक बुलबुल चहके थे। वही पुराना स्वर, पुराना राग, मानों लार्ड जेटलैण्ड के वक्तव्य की ही प्रतिध्वनियाँ। वायसराय के साथ बातचीत करने पर महात्मा गांधी के सामने फिर वही पुराना नासूर (साम्प्रदायिकता) प्रकट हुआ जिससे निराश होकर वे गोलमेज़-कान्फ्रेंस (लन्दन) से वापस लौटे थे। ८ नवम्बर को देश के सामने उन्होंने स्थिति को यों स्पष्ट किया—

"मैं आशा करता था, और अब भी आशा करता हूँ कि वर्तमान यूरोपियन युद्ध का औचित्य सिद्ध करने तथा शीघ्र उसका अन्त करने के लिए भारत जैसे महान् और प्राचीन देश को अपने जुए से स्वतन्त्र करना आवश्यक मानकर ब्रिटेन युद्ध के इस अभिशाप को वरदान बना देगा।

"वायसराय की सचाई पर पूर्ण विश्वास होने के कारण मैं अपने सहयोगियों से अनुरोध करूँगा कि धैर्य न खोवें। सत्याग्रह तब तक नहीं हो सकता जब तक—

(१) वायसराय समझौते का प्रयत्न कर रहे हैं,
(२) मुस्लिम लीग ने रास्ता रोक रखा है और
(३) कांग्रेस जनों में अननुशासन और अनैक्य है।"

ठीक इसी अवसर पर हिटलर ने भी एक मनोरञ्जक घोषणा की—"यदि भारत को स्वतन्त्र कर दे तो मैं ब्रूटेन के चरणों में !" यह पौलैंड की स्वतंत्रता के नाम पर जर्मनी से छिड़े हुए युद्ध की ओर हिटलर का गहरा व्यङ्ग था।

ऊपर स्थिति के जिन तीन पहलुओं की ओर महात्माजी ने निर्देश किया है उनमें से दूसरा पहलू अर्थात् साम्प्रदायिक मसला इतना नाजुक रहा है कि जब कि सत्याग्रह-आन्दोलन में सरकार के दमन से राष्ट्र को आत्मिक बल मिलता आया है, साम्प्रदायिक दङ्गों से उससे अधिक राष्ट्रीय क्षति होती रही है। तीसरा पहलू अर्थात कांग्रेसजनों में अननुशासन और अनैक्य, हमारे विशृंखल सामाजिक जीवन के बेतुकेपन को सूचित करता है। अपने घर के भीतर की अस्वच्छता के लिये हम कोई मुरौवत नहीं करते। कांग्रेस ने भी अनुशासन-भङ्ग करनेवालों को बड़ी बेमुरौवती से अपने भीतर से अलग कर दिया। ये अलग हुये या इन्हीं के ढङ्ग के अन्य लोगों ने कांग्रेस के विरुद्ध पार्टियां बनाई और अपनी ही दूषित मनोवृत्तियों के कारण कांग्रेस (महात्मा गांधी) से अधिक प्रभावशाली नहीं हो सके। इन्हीं लोगों ने इस युद्ध-काल में पुनः सत्याग्रह शुरू करने के लिए कांग्रेस को कुरेदना शुरू किया। यदि इन्हीं की बातों से पुनः सत्याग्रह शुरू कर दिया जाता तो पहली बात किन्तु बड़ी कड़वी बात यह कि ये अपनी उच्छृंखलता से सत्याग्रह के स्वयं बाधक होते, जिस प्रकार कांग्रेसी अनुशासन

के उल्लङ्घक साबित हो चुके थे। दूसरी बात, जिसकी ओर महात्मा ने बड़ी ही चिंतापूर्ण भाषा में ध्यान दिलाया, वह यह है कि इस समय सत्याग्रह शुरू करने पर साम्प्रदायिक दङ्गों के रूप में गृह-युद्ध प्रज्ज्वलित हो उठेगा और तब राष्ट्रीय शक्तियाँ आपस में ही विध्वस्त होंगी। सचमुच यदि ऐसी ही बात होती तब तो नौकरशाही की ही मनचाही हो जाती। वह भारत के प्रश्नों की ओर से छुटकारा पाकर एकमात्र यूरोपीय युद्ध की ओर ही एकाग्र हो जाती। उधर वह अपने भाग्यका निपटारा करती, इधर हम अपने दुर्भाग्य की होली खेलते रहते!

किंतु इस प्रसंग का एक दूसरा पहलू भी है। सन् २० या ३० के राष्ट्रीय आन्दोलनों के चलते समय साम्प्रदायिक दंगे नहीं हुए। सन् ३० के आंदोलन के स्थगित होने पर जो साम्प्रदायिक दंगे हुए वे तो सन् २० के बाद के दंगों से भी भीषण थे। साम्प्रदायिक दंगों ने तो जब जब आंदोलन बंद हुआ तभी तब जोर दिखाया। इसमें क्या रहस्य है? असल बात तो यह है कि सत्याग्रह और साम्प्रदायिक दंगे दोनों साथ साथ चल ही नहीं सकते। साम्प्रदायिक दंगे तो सत्याग्रह के खामोश होने पर गैर सरकारी उत्तर मात्र हैं। और जब सत्याग्रह चलता रहता है तो उसका उत्तर स्वयं सरकार दमन से दे लेती है। बाद में साम्प्रदायिक दंगे उसी दमन के दामन बन जाते हैं। सत्याग्रह के चालू रहने पर दमन और दामन दोनों साथ-साथ उसके अवरोध के लिए

सामने आवें तो इससे सरकारी नीति बेपर्द हो जायगी। इससे साम्प्रदायिक समस्या के प्रति सरकारी नीति का इतना साफ खुलासा हो जायगा कि जनता की आँखें अपने आप खुल जायँगी। सरकार जानती है कि सत्याग्रह का अवरोध साम्प्रदायिक दङ्गों से नहीं किया जा सकता। यदि उस समय साम्प्रदायिक दंगे हुए तो सुसंस्कृत सत्याग्रहियों की अपेक्षा असंस्कृत साम्प्रदायिकवर्ग अनियन्त्रित और अराजक हो जायगा, फिर तो सरकार को अपने ही दामन को उधेड़ना पड़ेगा।

एक दूसरी दिशा में इसका एक कटु अनुभव सर सिकन्दर की सरकार को अभी हाल में ख़ाकसारों का दमन करने में हो चुका है। यद्यपि ख़ाकसार-आन्दोलन साम्प्रदायिक न होकर राजनीतिक था, फिर भी वह स्थिति की उस भीषणता को सूचित करता है जो साम्प्रदायिक दङ्गों से अराजक रूप में प्रकट हो सकती है। राजनीतिक पृथक्करण के रूप में हिन्दुओं और मुसलमानों का प्रश्न तथा सामाजिक पृथक्करण के रूप में हिन्दुओं के भीतर हरिजनों का और मुसलमानों के भीतर शिया-सुन्नी या तबर्रों का प्रश्न क्या बर्बर अराजकता की सीमा पर नहीं पहुँच सकता? यह कहा जा सकता है कि सत्याग्रह की तब की राजनीतिक परिस्थिति और युद्ध-काल की साम्प्रदायिक परिस्थिति में बहुत अन्तर है। तब जो दङ्गा सम्भव नहीं था, वह अब सम्भव हो सकता है। किन्तु देश-वासियों

को यह भी बतला दिया गया है कि इस बार यदि पुनः सत्याग्रह हुआ तो वह पिछले आन्दोलनों से भिन्न प्रकार का होगा और महात्मा के ही पूर्व वक्तव्य के शब्दों में—"मुस्लिम-लीग से काम चलाने लायक़ समझौता हुए बिना लीग का भी विरोध करना पड़ेगा।"

जो हो, सत्याग्रह के आचार्य महात्माजी हैं, देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार वे ही राष्ट्रीय आन्दोलन की ठीक गति-विधि का ज्ञान रखते हैं। उन पर विश्वास कर हम ठगाये नहीं हैं, भविष्य में भी हमें उनका भरोसा है। वे एक स्थितप्रज्ञ गम्भीर द्रष्टा हैं। कांग्रेस ने इस युद्ध-काल में भी रामगढ़ में देश की बागडोर उन्हीं के हाथों में सौंप दी है। इसके आगे भविष्य की बातें आनेवाले इतिहास में देखी जायँगी। और उस इतिहास की जाँच, महात्मा के ८ नवम्बर सन् १९३९ के वक्तव्य के इस अंश से की जायगी—

"ब्रिटेन ने अब तक तथोक्त बहुसंख्यकों के विरुद्ध अल्पसंख्यकों को खड़ा करके अपने हाथ में अधिकार रखा है—किसी भी साम्राज्यवादी व्यवस्था में यह अनिवार्य है—और इस प्रकार इन दोनों में समझौता होना लगभग असम्भव कर दिया गया है। अल्पसंख्यकों के संरक्षण का उपाय ढूँढ़ने का भार इन दोनों पक्षों पर ही छोड़ दिया जाना चाहिए। जब तक ब्रिटेन इस भार को वहन करना अपना कर्तव्य मानेगा तब तक उसे भारत को अधीन

राज्य बनाये रखने की आवश्यकता भी प्रतीत होती रहेगी और भारत के उद्धार के लिए उतावले देशभक्त, यदि उनका पथ-प्रदर्शन मैं कर सका तो, अहिंसामय रीति से और यदि मैं असफल हुआ और इस प्रयत्न में मर मिटा तो, हिंसामय प्रकार से ब्रिटेन से लड़ते रहेंगे।"

[९]

इस राष्ट्रीय चित्ररेखा में विरोधी रंग ये हैं—

(१) साम्प्रदायिक, (२) लिबरल, (३) क्रान्तिकारी, (४) देशी रियासत।*

असल में ये सब विभिन्न आकृतियों में एक ही प्रकृति के रूपान्तर हैं। ये सभी राष्ट्र-विरोधी हैं। इनके विरोध का मूलाधार

*महात्मा गान्धी के अनुसार स्वार्थों के स्तम्भों का वर्गीकरण इस प्रकार है—(१) यूरोपियनों का स्वार्थ (२) सेना, (३) देशी नरेश और (४) साम्प्रदायिक फूट। इनमें भी मुख्य प्रथम है। अन्तिम तीन उसकी पुष्टि के लिए बनाये गये है। बृटिश शासक कहते हैं कि "पहिले यूरोपियनों के स्वार्थ की रक्षा का वचन दो, अपनी सेना तैयार कर लो, राजाओं से समझौता कर लो, और सम्प्रदायवादियों अर्थात अल्पसंख्यकों को राजी कर लो।"—यह उलटा न्याय है। जो काम उन्हें करना चाहिए वह हमसे करने को कहते हैं। जो काम तब तक हो नहीं सकता जब तक प्रभुशक्ति उनके हाथमें रहेगी, उसे कर लेने के बाद हमें प्रभुशक्ति वा स्वभाग्य-निर्णय का अधीकार दे रहे हैं!

आर्थिक स्वार्थ है। व्यक्तिगत या वर्ग-विशेष के स्वार्थों का सवाल लेकर ये कांग्रेस के प्रतिकूल हैं। यह कहना अप्रिय होगा कि जनहित के बजाय सिद्धान्त के नाम पर परोक्ष रूप से ये अपनी निजी महत्त्वाकांक्षाओं के प्रतिद्वन्द्वी हैं। सम्प्रदायवादियों और देशी रियासतों की मनोवृत्तियाँ तो बिलकुल स्पष्ट हैं, किन्तु लिबरलों और क्रान्तिकारियों की मनोवृत्ति गुलाबी पत्तों की ओट में काँटे की तरह छिपी हुई है। एक (लिबरल) मौज से आराम-कुर्सी पर टाँगे फैलाकर यदि लोक-हितैषी सिद्धान्तोंकी रईसी करता है तो दूसरा (क्रान्तिकारी) उसी का (रईसी का) साझीदार होने के लिये, कीट-पतंगों की तरह कुचले गये दीन-विपन्नों के नाम पर गला फाड़ कर चिल्लाता है। दोनों अपनी-अपनी पाशविक आवश्यकताओं के लिए सजग हैं। मानवीय विवेक दोनों का खोया हुआ है। ठीक इसके प्रतिकूल कांग्रेस सुधीर होकर जनता के कष्टों को दूर करने के लिए वास्तविक रचनात्मक कार्यों को अग्रसर करना चाहती है। प्रतिभाशाली कवि और तुक्कड़ में जितना अंतर है, उतना ही कांग्रेस (महात्मा) और उसके विरोधियों में!

आर्थिक लक्ष्य कांग्रेस का भी है, किन्तु जब कि विरोधी दल (राजनैतिक, वैयक्तिक या साम्प्रदायिक रूप में) केवल अर्थ-लिप्सु हैं, तब कांग्रेस केवल राजनैतिक ही नहीं, नैतिक संस्था भी है। उसने जीवन के आदर्शों को सामने रखकर ही राजनीतिक समस्याओं को अपने हाथ में लिया है। राजनीति स्वयं अपने में कोई पूर्ण

चीज नहीं है, वह तो जीवन के आदर्शों और विश्वासों के सञ्चालन का एक राजविधान मात्र है। यदि आदर्श ठीक नहीं है तो राजनीति जीवन का गलत प्रतिनिधित्व कर सकती है और आज संसार में यही हो रहा है। कांग्रेस ने इसी राजनैतिक विडम्बना को दूर करने के लिए नैतिक दृष्टिकोण को अपनाया है। जीवन के जंगलीपन को दूर कर जिस आदर्श के द्वारा वह पाशविक समाज को मनुष्यों का समाज बनाना चाहती है, उसी आदर्श को उसने अपने राजनैतिक स्वर में सुनाया है। उस स्वर के सफल होने में कुछ सामयिक व्यवधान भी हैं, यथा, पराधीनता, साम्प्रदायिकता, वैयक्तिक स्वेच्छाचारिता। इन्हें निर्मूल करने के लिए उसने जो राष्ट्रीय कार्यक्रम बनाया वे राजनीतिक-से लगते हैं, इसलिए कि ये खराबियाँ आज की राजनीति में आ मिली हैं। कांग्रेस आदर्श को अपने सामाजिक कार्यों में मूर्त्तरूप दे रही है और उसको गतिशील करने के लिए राजनीति को नवजीवन दे रही है, ताकि उचित वस्तु उचित साधन से ही परिचालित हो। यह नहीं कि पोलेंड की स्वाधीनता के नाम पर पुरानी साम्राज्यशाही राजनीतिक मनोवृत्ति का संरक्षण हो। बुद्ध ने जैसे राजसत्ताओं को जीवन के आदर्शों में आध्यात्मिक बना दिया, उसी प्रकार गान्धी ने कांग्रेस द्वारा आज की राष्ट्रीय राजनीति को। कांग्रेस जब कि जीवन (संस्कृति) को लेकर चलती है तब अन्य दल जीवन के केवल 'निर्वाह' (राजनीति) को। उनका जीवन-निर्वाह

उस रथ की तरह है जिसमें कोई सारथी (आदर्श) नहीं है, केवल स्वार्थी हैं।

यह एक मजे की बात है कि कांग्रेस को एक ओर हिन्दू भी कोसते हैं, दूसरी ओर मुसलमान भी, तीसरी ओर क्रान्तिकारी भी, चौथी ओर उसी के भीतर अनुशासन-भङ्ग करनेवाले लोग भी, और तो और, लिबरल भी। इस प्रकार कांग्रेस सभी ओर से विरोधी वातावरणों में रहकर भी सुदृढ़ और सम्मान्य है। इसका कारण केवल एक व्यक्ति की तपस्या है और वह तपस्वी है महात्मा गान्धी। कांग्रेस का निर्माण जब तक महात्मा के आदर्शों पर है तब तक हम देश के विरोधी दलों को उसी (कांग्रेस) के चारों ओर रखकर विचार कर सकते हैं, उसी को केन्द्र बनाकर हम विभिन्न दलों के मनोभावों को माप सकते हैं।

सम्प्रति साम्प्रदायिक प्रश्न जोर पर है। मिस्टर जिन्ना की समझ में कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था है। हिन्दू कहते हैं, कांग्रेस मुसलमानों का पक्ष लेती है। इस झगड़े में धार्मिक या सांस्कृतिक तत्त्व तो है ही नहीं, यदि ऐसा होता तो हमारे मन में मन्दिर की पूजा जैसी पवित्रता होती, मसजिद की अज़ान जैसी तल्लीनता। यह झगड़ा-फसाद तो कांग्रेस के उस राजनीतिक रूप को क्षत-विक्षत करने के लिए है जो उसके आदर्श का साधन मात्र है। कांग्रेस के महान् लक्ष्य को मद्देनज़र न रखकर केवल उसके साधन (राष्ट्रीय राजनीति) को खण्डित करनेका प्रयत्न करना अपने को असामाजिक

प्राणी सिद्ध करना है, जिस समाज में हम रहते हैं उसके पुनर्जीवन के प्रति शुभेच्छु न हो कर केवल निजी स्वार्थका नेतृत्व करना है। यह साम्प्रदायिक प्रश्न धार्मिक(सांस्कृतिक)तो है ही नहीं,साथ ही आर्थिक भी नहीं है। यह साफ़ शब्दों में नंगापन है। आर्थिक प्रश्न तो समग्र राष्ट्र के हिताहित में मिला हुआ है, क्योंकि हम सब एक ही शासन के अन्दर हैं। और उसी शासन के प्रतिकूल कांग्रेस का सङ्गठन है। यदि उस सङ्गठन पर हम आघात करते हैं तो इसके माने यह कि हम अपने सङ्कुचित स्वार्थों को संरक्षण देनेवाले शासन के वफ़ादार हैं, न कि विशाल राष्ट्र के। सार्वजनिक क्षेत्र में, जहाँ कि लोक-लाज का कुछ भय है, जब हमारा यह हाल है तब व्यक्तिगत जीवन में तो हम भेड़ियों और लकड़बग्घों से कम भयानक न होंगे।

[१०]

कांग्रेसी सरकारों के इस्तीफ़ा दे देने के बाद मुस्लिम लीग के नेता मि० जिन्ना ने मुसलमानों से २२ दिसम्बर सन् ३९ को 'मुक्ति-दिवस' मनाने की अपील की। अर्थात्, कांग्रेसी-सरकारें उनके लिए एक कुग्रह थीं, जिनके इस्तीफ़ा देने से उन्हें मुक्ति मिल गई। जब कि स्वाधीनता के नाम पर कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफ़ा दिया तब यह अपील स्पष्ट सूचित करती है कि स्वाधीनता के प्रयत्नों का न होना ही मि० जिन्ना के लिए 'मुक्ति' है! क्या मि० जिन्ना ने ब्रिटिश शासन के अत्याचारों के विरोध में भी कभी कोई दिवस

मनाने की अपील की है, या वहाँ से न्यामतें ही न्यामतें मिली हैं! सच तो यह कि उनके लिए गुलामी ही सबसे बड़ी न्यामत है।

यह 'मुक्ति-दिवस' मनाने का हौसला मि॰ जिन्ना को क्योंकर हुआ? महात्मा गांधी और राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने मि॰ जिन्ना को मुस्लिम-प्रतिनिधि मानकर उनसे साम्प्रदायिक बातचीत करने में उन्हें जो असाधारण महत्व दे दिया उसी का परिणाम है कि मि॰ जिन्ना के नेतृत्व के हौसले बहुत ऊँचे उठ गये। और ठीक कांग्रेस के पैमाने पर उन्होंने भी एक अपूर्व प्रोगाम सोच निकाला—'मुक्ति-दिवस।' इस 'मुक्ति-दिवस' में कितनी गर्हित मनोवृत्ति छिपी हुई है कि जिससे क्षुब्ध होकर मौलाना आज़ाद को कहना पड़ा कि आने वाले युग की पीढ़ियाँ बड़ी घृणा से इस घटना को याद करेंगी। यही नहीं, मुस्लिम लीग और मुस्लिम लीग के बाहर के मुसलमानों को भी मि॰ जिन्ना का प्रतिवाद करना पड़ा। सन् २० के आन्दोलन के बाद के साम्प्रदायिक विग्रहों के अवसर पर जहाँ प्राय: सभी मुसलमान राष्ट्रीय हिताहित की ओर से खामोश थे वहाँ सन् ३० के आन्दोलन के बाद के इस साम्प्रदायिक प्रसङ्ग पर अच्छे अच्छे मुसलमान भाइयोंने साम्प्रदायिक रूप में इस राष्ट्रीय प्रवञ्चना का विरोध किया। इसी से यह सूचित होता है कि देश कितना जग चुका है और एक दिन वह भी आयेगा कि साम्प्रदायिकता की ओट में राष्ट्र के वास्तविक प्रश्नों की ओर से आँखें मूँद लेनेवालों पर इतिहास घृणा से थूक देगा।

जैसा कि महात्माजी ने कहा है, साम्प्रदायिक प्रश्नों का संतोषजनक निपटारा न होने पर कांग्रेस मुस्लिम लीग का विरोध करके भी सत्याग्रह आरम्भ करेगी. इस रवैये को देखते हुए भविष्य में शायद ऐसा ही करना पड़ेगा। मुस्लिम लीग के साथ तो हिन्दू-महासभा ही आमने-सामने बातचीत कर सकती है। कांग्रेस का आसन इन दोनों से ऊपर है, वह इनके बीच निर्णायक बन सकती है, डिबेटर नहीं।

जब इतने बड़े बृटिश शासन की राजनीति कांग्रेस की गति रोक नहीं सकी, तब उसी के शिष्यों की यह कूटनीति कहाँ तक कारगर हो सकती है! कांग्रेस यदि अपने लक्ष्य में सचाई पर है और उसके साथ पीड़ित राष्ट्र का मनोबल है तो वह सभी विपरीत शक्तियों का अतिक्रम करते हुए आगे बढ़ेगी। सम्प्रति हमारा लक्ष्य है स्वाधीनता। घरेलू मतभेदों को हम स्वतंत्र भारत में ही सुलझायेंगे, क्योंकि पराधीन रखनेवाली शक्तियाँ जब तक यहाँ बनी हुई हैं वे हमें स्वतंत्र होने के लिए इन्हें क्यों सुलझने देंगी। और जब पराधीन रखनेवाली शक्तियाँ रह नहीं जायँगी तब हम एक साथ रहने के लिए स्वयं आपस में उलझने के बजाय सुलझने लगेंगे। उस समय हम देखेंगे कि आज के घरेलू मतभेद केवल समय के विद्रूप मात्र थे। कांग्रेस का अगला कदम (स्वाधीनता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन का भावी कार्यक्रम) ही इस समय सब से बड़ी प्रतिभा की सृष्टि होगी। देखना है कि वह किस

प्रकार इन बाधाओं की उपेक्षा कर राष्ट्र को एकाग्र कर देनेवाला कदम आगे रखती है।*

[११]

जिस प्रकार अभी कांग्रेस और साम्प्रदायिकता का मुकाबिला है, उसी प्रकार एक और कठिन प्रसंग गान्धीवाद और समाजवाद का है। समाजवाद साम्प्रदायिकता जैसा संकीर्ण न होकर भी गान्धीवाद के लिए सम्प्रति उसी की भाँति आक्रमणात्मक है। साम्प्रदायिक और समाजवादी सिद्धान्ततः सार्वजनिक साइनबोर्ड रखते हुए भो उच्छृङ्खल मनोवृत्तियों के प्रेरक हो रहे हैं। तरुणों का उष्ण रक्त जितना गरम होता है उतना विवेकयुक्त नहीं, फलतःउनका जोश-खरोश उच्छृङ्खलताको पहले अपनाता है, गंभीर उत्तरदायित्व को बाद में। राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल जो लोग राजनीतिक गुरु-डम का नेतृत्व करते हैं वे इन्हीं तरुणों को बरगला कर। इन्हीं की गरमाहट से वे तेज-तरार बनते हैं। जिस प्रकार कठमुल्ले और पंडे-पुरोहित जनता के अज्ञान से लाभ उठाते हैं उसी प्रकार ये नवयुवकों की भावप्रवण अबोधता से। किन्तु जिस दिन तरुण सचेत हो जाते हैं, उनके नये खून में जिस दिन विवेक का गाढ़ापन आ जाता है, उस दिन आत्मलिप्सु नेताओं का नेतृत्व स्वयं समाप्त हो जाता है और वे बूढ़े बैल की तरह दुनिया की नजरों से दूर

* सन् ४२ के अगस्त में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' की आवाज उठायी।

अकेले में ही पगुराते रहते हैं। तरुण नवीनता के उपासक होते हैं; एक शब्द में रोमैन्टिक रक्त से बने होते हैं। पुरानी दुनिया में जब वे कोई नई उथल-पुथल देखते हैं तब उनके रक्त में भी हल-चल मच जाती है, फलतः आवेश में या उत्साहाधिक्य में वे पहले उसमें आँख मूँदकर कूद पड़ते हैं। और जब वे उस उथल-पुथल की गहराई में पहुँचते हैं तब तथ्य के तल पर पहुँचकर अपने युग की ठीक जमीन पर भी खड़े हो जाते है। इस प्रकार हम तरुणों की प्रगति को देखें—

तरुणों ने एक दिन लिबरलों का साथ दिया था, भारत की राजनीतिक प्रगति तब लिबरलों तक ही सीमित थी। इसके बाद हिंद महासागर में एक बाड़व-विस्फोट हुआ, गरमदल के नेता के रूप में तिलक सामने आये। नवयुवकों ने तिलक का साथ दिया। तिलक ने राष्ट्र की वास्तविक आकांक्षा स्वराज्य के रूप में रक्खी। किंतु तिलक असमय ही चले गये, देश की लगन को जगाकर चले गये। लगन वे जगा गये किंतु रचनात्मक कार्यक्रम नहीं दे पाये। फलतः जागृति को ही प्रचंड बनाये रखने के लिए गरमदल के नवयुवक उस क्रांतिकारी पार्टी में चले गये जो बङ्ग-भङ्ग आन्दोलन के समय से देश में एक लक्ष्यहीन राजनीतिक उत्क्रान्ति बनाये हुए थी। यह ऐसा ही हुआ जैसे गृहस्थी के अभाव में यौवन का गुमराह हो जाना। उधर क्रांतिकारी पार्टी अपनी विभीषिका में लगी रही, इधर महात्मा ने तिलक की स्वराज्याकांक्षा

को सामने रखकर राष्ट्रीय रचनात्मक कार्यक्रम का श्रीगणेश कर दिया। देश की जागृति इस कार्यक्रम में खादी के ताने-बाने की भाँति सङ्गठित हो गई। जिन नवयुवकों ने उथल-पुथल के बीच राष्ट्रीय सतह को समझा वे महात्मा के साथ आ गये। किंतु जो उथल-पुथल में ही पड़े रह गये अर्थात् जो जोश में अधिक और होश में कम थे, वे या तो साम्प्रदायिकों के साथ जा मिले अथवा क्रांतिकारियों के साथ। किंतु कोरे जोश-खरोश के ठंढा होने का भी एक समय आता है जब कि वस्तुस्थिति को पहाचानकर व्यक्ति को जीवन के प्रति उत्तरदायित्व-पूर्ण हो जाना पड़ता है। फलतः साम्प्रदायिकों और क्रांतिकारियों को किसी स्थायी निर्माण की ओर बढ़ते न देखकर नवयुवकों को कांग्रेस में ही शामिल हो जाना पड़ा। फिर भी जो कांग्रेस में नहीं आये वे देश से ज्यादा अपने को चाहते थे। ऐसे लोगों के अज्ञान से लाभ उठाकर उनके नेता भी अपनी पाँचों उँगली घी में बनाये रहने के लिए चौकस रहे। इन्हीं मुट्ठी भर खुदगर्जों को लेकर सरकार राजनीतिक उलझाव पैदा करती आ रही है। किंतु यह बालू की भीत कब तक टिकेगी? विश्वव्यापी लहर क्या इसे एक दिन एक क्षण में में ढाह नहीं देगी!

हाँ, साम्प्रदायिक क्षेत्र के कार्यकर्त्ता कांग्रेस में नहीं के बराबर आये। आते कैसे? उन्हें राष्ट्र (कांग्रेस) से तो मतलब था नहीं।

---

[१२]

स २८ तक कांग्रेस ब्रिटिश सरकार से ही लड़ रही थी, स्वाधीनता के लिए। इस बीच क्रांतिकारी पार्टी अपनी विभीषिका से सरकार को आतंकित करती रही, दूसरी ओर कांग्रेस से पृथक् मज़दूरों के नेता पूँजीपतियों से हड़तालों द्वारा मोर्चा ले रहे थे। क्रांतिकारियों और मज़दूर नेताओं के प्रयत्न अपनी अपनी पार्टियों में पूर्ण होकर भी अपूर्ण थे, वे दलबंदी के दलदल में थे। उनमें आत्मविज्ञापन की ज़बरदस्त प्रतिद्वन्द्विता थी। ये पार्टियाँ उन बुदबुदों की तरह थीं (और तब तक हैं जब तक देश प्रबुद्ध नहीं हो जाता) जो किसी महासिन्धु में समय-समय पर एकाध चट्टान (विक्षोभ) के गिर जाने से उफना उठते हैं।

लक्ष्य की एकाग्रता के अभाव में अथवा व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के उफान में उनमें गम्भीर सङ्गठन न होने के कारण वे

पार्टियाँ केवल प्रदर्शन मात्र रह जाती हैं। पार्टियों की आवाज़ एक दूसरे से आगे बढ़ जाने के लिए आपस में ही टकराती रहती है। जनता का कष्ट आज उनके लिए एक नई चीज़ है, इसलिए वे उसे सुनाते हैं, कल किसी भी अच्छी-बुरी नई चीज़ का बोल-बाला होने पर उसकी ओर भी दौड़ सकते हैं, शर्त यह कि उसमें उनकी लीडरी कायम रहे।

कांग्रेस (महात्मा) में और चाहे जितनी कमी हो, और सबसे बड़ी कमी तो उसमें जवानी के खून की है, किन्तु उसमें आन्तरिक अनुभूति एवं संवेदना का अभाव नहीं है। उसकी दृष्टि पुरानी हो सकती है किंतु जहाँ तक वह देखती है उसमें आंतरिक ज्योति है, वह ज्योति देश के दुःख-दैन्य के प्रति विदग्ध है। वह हमदर्दी से बोलती है, बोलने के लिए नहीं बोलती। इसी विदग्ध ज्योति का अन्य पार्टियों में अभाव है। दूसरे शब्दों में जन-हित के नाम पर उनमें व्यक्तिगत लिप्साओं का विक्षेप है, मानव-स्पंदन-शून्य।

स्थिति यह कि पार्टियों में एक ओर नेता बोल रहे थे, दूसरी ओर कांग्रेस में जनता (देश की नींव) बोल रही थी। कांग्रेस की जनता पुराने संस्कारों में पली हुई है और वह जनता अपनी फ़रियाद लेकर सदा से शासकों के पास जाती रही है, न कि शासकों के संरक्षित मांडलिकों की ओर। कांग्रेस ने इसी जनता को शासकों की निरंकुशता का असहयोगी बना दिया। इस सीधी-

मादी अहिंसात्मक लड़ाई में जनता शीघ्र निपुण हो गई। किंतु मांडलिकों (पूँजीपतियों) के साथ युद्ध छेड़ना उस जनता के लिए जरा चक्करदार रास्ता है। इस रास्तेपर जाकर वह अपना सीधा लक्ष्य तो छोड़ ही बैठती, साथ ही अपने ही घर के एक चक्रव्यूह में फँस जाती। और सदियों की जिन साम्राज्यवादी शक्तियों का सहयोग पाकर ये चक्रव्यूह बने हैं, वे शक्तियाँ ज्यों की त्यों सलामत रहतीं और इन चक्रव्यूहों कि रक्षा के लिए अपने सम्पूर्ण कौशल खर्च कर देतीं। होता यह की जनता तो कुचल जाती और साम्राज्यवादी सरकार तथा उसके चक्रव्यूह (पूँजीवादी) ज्यों के त्यों अपने ढर्रे पर चलते रहते। अतएव, जनता को स्वाधीनता के सीधे लक्ष्य की ओर ले जाना पूँजीवाद की उस मूलशक्ति को ही पहले निर्मूल कर देना है जिसकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ जनता के जीवनका रक्त-शोषण कर रही हैं। असहयोगी कांग्रेस ने उसी मूलशक्ति का लक्ष्यवेध किया। स्वाधीनता के बाद मांडलिकों (पूँजीवादी चक्रव्यूहों) के प्रति कांग्रेस का क्या रुख होगा, यह समय-समय पर महात्मा गांधी के वक्तव्यों से स्पष्ट है कि वे अपने ढङ्ग से (गांधीवादी समाज-रचना द्वारा) उनकी रक्षा करेंगे। किंतु हमारा विश्वास है कि स्वाधीनता के सन्निकट पहुँचते-पहुँचते कांग्रेस (महात्मा) का वार्द्धक्य अपना कर्तव्य पूरा कर समाप्त हो जायगा। * उसी समय कांग्रेस को जवानी के खून की आवश्यकता होगी। नवीन यौवन में ही

इतनी शक्ति होगी कि स्वाधीन देश के भीतर साम्राज्यवाद के जो साम्प्रदायिक और आर्थिक चक्रव्यूह शेष रह जायँगे उनका मुकाबिला करे। वह मुकाबिला किस प्रकार होगा, इसी सवाल के साथ गांधीवाद और समाजवाद का विवाद है। स्वाधीन देश की नई पीढ़ी तो यही चाहेगी कि देश में समाजवादी रचना हो, किंतु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, युवक पीढ़ी के प्रयत्नों में आंतरिक ज्योति आने की जरूरत है और यह गांधीवाद द्वारा ही सम्भव है। स्वाधीन भारत का स्वरूप तो समाजवादी होगा, किंतु उसका निर्माण रूस की तरह कोरमकोर राजनीतिक आधारों पर न होकर नैतिक संवेदनशीलता द्वारा होगा। इसके बिना समाजवाद एक अनुशासित पशुता का समाज बना सकेगा किंतु वह पशुता भी कभी न कभी निरंकुश हो जायगी, जैसे कि आज वह अपने साम्राज्यवादी रूप में है। शासित पशुता के बजाय हमें जरूरत है सुगठित मनुष्यता की, और इसकी रचना समाजवाद के शरीर में गांधीवाद की आत्मा प्रतिष्ठित करने से ही हो सकेगी।

तो गांधीवाद सम्प्रति स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर बढ़ा चला जा रहा है, साथ ही समाजवाद भी अभी से गांधीवाद के साथ कशमकश कर रहा है। यद्यपि यह देशकाल की स्थिति को देखते हुए बेमौजूँ जान पड़ता है, तथापि इस कशमकश के बाद भी यदि

* स्वराज्य मिलते ही गान्धीजी का देहान्त हो गया। कांग्रेस को वसर्जित कर के उसे 'लोकसेवक संघ' के रूप में देखना चाहते थे।

गान्धीवाद विजयी होगा तो समाजवाद का वह युवक शरीर गांधी-वाद अभी से पा लेगा जिसका हम भावी स्वप्न देखते हैं। तब गांधीवाद स्वाधीनता प्राप्त करते ही जराजीर्ण नहीं हो जायगा, बल्कि अपना कायाकल्प कर नवीन भारत का नवीन यौवन बन जायगा।

[१२]

सन् २८ की कलकत्ता-कांग्रेस से उसी भविष्य की ओर बढ़ने का एक क़दम देश ने उठाया। विभिन्न बिखरी हुई गरम पार्टियों के नेता भी उसमें शामिल हुए। उस कांग्रेस में कोई समाजवादी दृष्टिकोण नहीं पास किया गया, बल्कि सरकार को एक साल की अवधि देकर अपने लक्ष्य (स्वाधीनता) की सीमा घोषित करने का निश्चय किया गया। यह कोई नई बात तो नहीं हुई किन्तु यह स्पष्ट था कि कांग्रेस में तरुण शक्तियाँ राष्ट्रीय प्रगति को कुछ जोश देना चाहती थीं। इसलिए कलकत्ता- कांग्रेस का स्थगित प्रस्ताव लाहौर-कांग्रेस में पास करना ही पड़ा। उस समय तरुण शक्तियों के सारभूत नेता जवाहरलाल और सुभास बोस थे, मानों देश की नई पीढ़ी के ये ही परिष्कृत प्रतिनिधि थे।

सन् ३० की लाहौर-कांग्रेस में राष्ट्र ने अपने लक्ष्य (पूर्ण स्वाधीनता) की स्पष्ट घोषणा की। जवाहरलाल इस कांग्रेस के सभापति थे। नवयुवक-शक्ति उस समय कांग्रेस के द्वारा अपनी जो अधिक से अधिक आवाज बुलन्द कर सकती थी

वह यही स्वाधीनता के लक्ष्य की घोषणा थी। और जवाहरलाल अपने सम्पूर्ण द्वन्द्वात्मक विचारों के बावजूद कांग्रेस के ही अधिकारी अंग हो गये। उनके मानसिक द्वन्द्व उनकी 'मेरी कहानी' में हैं। तरुण भारत की आकांक्षाओं के ईमानदार प्रतिनिधि होते हुए भी वे उसके सक्रिय प्रयत्नों के सहायक न होकर सहानुभूतिपूर्ण अथवा संवेदनशील नेता रहे। एक संस्था (कांग्रेस) के नियम-बद्ध अंग बन जाने के कारण उनका जोश-खरोश एक गंभीर बुजुर्गी में परिणत हो चला। फलतः वे राष्ट्र की तरुण-पीढ़ियों को उसी प्रकार सहानुभूति देते रहे जिस प्रकार महात्मा गांधी जवाहरलालजी की भावनाओं को। कांग्रेस के मुख्य लक्ष्य को अग्रसर करते हुए जवाहरलाल के मन में देशव्यापी अन्य नवयुवक-प्रयत्नों (यथा, समाजवादी प्रयत्नों) के लिए एक स्वाभाविक छटपटाहट है, क्योंकि वे समाजवादी विचारों को लेकर ही कांग्रेस के सभापति हुए और इस प्रकार कांग्रेस में उनकी स्थिति उस अतिथि की सी हुई जिसके कुछ निजी विश्वास और प्रयत्न हैं किन्तु जिस गृह में उसने प्रवेश किया है उसके प्रति भी उसे शिष्टाचार रखना पड़ता है। और स्वभावतः कांग्रेस को भी अपनी इस तरुण-पीढ़ी के प्रज्वलित प्रतिनिधि का खयाल है। यह अतिथि मौके-बेमौके अपने विश्वासों का जो व्यक्तित्व भस्माच्छादित अंगारे-सा झलका देता है, कांग्रेस उसके लिए उसे निराश नहीं करती किन्तु अपनी सामयिक नीति की सार्थकता भी उससे स्वीकार करा लेती

है। इस प्रकार कांग्रेस (गांधीवाद) के साथ जवाहरलाल तरुण-भारत (समाजवाद) की ओर से एक सजग प्रश्न के रूप में सम्बद्ध हैं। सचमुच तरुण-भारत कांग्रेस के प्रति ही प्रश्नोन्मुख हो सकता है, जैसे कांग्रेस स्वाधीनता के लिए बृटिश सरकार के प्रति। क्योंकि, तरुण-भारत की जो आकांक्षाएँ हैं वे पराधीनता में पूरी नहीं हो सकतीं। कांग्रेस स्वाधीनता की प्राप्ति में सफल हो और उस सुदिन के आने तक तरुण-भारत जवाहरलाल के रूप में कांग्रेस से प्रश्नवत् सम्बद्ध रहे। भारत के स्वाधीन होने पर कांग्रेस का पहला काम इसी प्रश्न को हल करना होगा। उस समय कांग्रेस को व्यक्तिगत उग्र पार्टियों से परे इस प्रश्न को गम्भीर रूप में लेना होगा, जैसे साम्प्रदायिकता से परे आर्थिक राष्ट्रीय प्रश्न को। तब तक तरुण-भारत की ओर से जवाहरलाल एक प्रश्न-चिन्ह के रूप में कांग्रेस को भविष्य के लिए प्रस्तुत करते रहेंगे। जैसे लन्दन की हाटों में महात्मा अपनी 'डाँड़ी' को नहीं भूल गया वैसे ही कांग्रेस के भीतर हमारा जवाहर तरुण-भारत को न भूल जाय, राजनीतिक क्षेत्र में अपनी मानसिक आत्महत्या न कर ले, यही हमारी शुभ कामना है।

[१४]

हाँ तो, लाहौर-कांग्रेस में स्वाधीनता के लक्ष्य की घोषणा तो हो गई, किंतु उन नवयुवकों को जो कलकत्ता-कांग्रेस में जवाहर और सुभास के रूप में सम्मिलित हुए थे, इतने से ही सन्तोष

नहीं हुआ। फलतः लाहौर-कांग्रेस में एक नई पार्टी का भी जन्म हुआ, नवयुवक कांग्रेस के उद्देश्यों से आगे के प्रयत्नों के लिए भी उद्बुद्ध हुए। यह खुशी की बात है कि देश में जो लक्ष्यहीन क्रान्ति गुप्तपार्टियों के रूप में चल रही थी और जो अपनी विभीषिका में विफल हो चुकी थी, उसने इस नई पार्टी में अपने को लक्ष्यवान् किया। कदली-पत्र की तरह कांग्रेस के भीतर से अब तक अनेक पार्टियाँ निकल चुकी हैं, किंतु उनमें मुख्य है समाजवादी पार्टी। इस पार्टी के भी कई दल हैं, किन्तु एक दल कांग्रेस से सम्बद्ध है। यह एक प्रश्न है कि विभिन्न पार्टियों के रहते समाजवाद का नेता हम किसे कहें ?

आज तो समाजवाद के अनेक नेता हैं और सभी को कांग्रेस से कुछ न कुछ शिकायत है। उनमें से कुछ का तो काम ही यह है कि कांग्रेस जो कुछ कहे या करे उसके खिलाफ बोलते रहना, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार लिबरलों का काम गान्धी-युग की कांग्रेस को कोसते रहना है। अतएव, प्रकारान्तर से ये कांग्रेस के लक्ष्य में उसी प्रकार बाधक हैं जिस प्रकार लिबरल। लिबरल और साम्प्रदायिक, ये दोनों एक ही संकुचित स्वार्थ या व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के विभिन्न नाम हैं। लिबरल लोग ही साम्प्रदायिक क्षेत्र में चले गये हैं, मानो वहाँ उन्होंने अपनी हरकतों की नई ब्रांच खोली हो। तो, अपने विरोधों द्वारा लिबरल जिस प्रकार बृटिश सरकार की शक्ति मजबूत करते हैं उसी प्रकार समाजवादी

पार्टियाँ भी; क्योंकि उनमें राष्ट्र के प्रति या अन्तर्राष्ट्रीय विश्व के प्रति उतना उत्तरदायित्व नहीं है जितना राजनीतिक विचारों में नवीनता का दावेदार होने का हौसला। दुर्भाग्य से संसार साम्राज्यवाद से पीड़ित है। सौभाग्य से इस पीड़न का एक उपचार समाजवाद के रूप में सामने आ गया है। यदि समाजवाद का आविर्भाव न हुआ होता तो इन समाजवादी नेताओं की राजनीतिक नवीनता कहाँ होती, कौन कहे। इनके विरोधी रुखों को देखकर कभी कभी यह ख्याल होता है कि एक दिन सामाजिक जागृति में जैसे अँगरेजीदाँ होना फैशन बन गया था, वैसे ही आज की राजनीतिक जागृति में समाजवादी होना भी तो कहीं एक फैशन नहीं बन गया है? यहाँ हम हद से हद यही कहना चाहते हैं कि राजनीति में लिबरल जब कि एक पुराने फैशनेबुल हैं, नामधारी समाजवादी नये फैशनेबुल। इनके बीच में कुछ हेलेनिस्ट साहित्यिक और नागरिक भी हैं जो कला के नाम पर वैभवजन्य भावुकता की उपासना करते हैं और कभी कभी जब राजनीति में भी बोलने की कृपा करते हैं तो उनकी मूल मनोवृत्ति लिबरल रहती है (क्योंकि उनमें आत्मत्याग का माद्दा नहीं)। वे राजनीतिक पैंतरे के अनुसार अपने दाँव-पेंच बदलते रहते हैं। जीवन के संघर्ष का यह युग ही इतना विकराल है कि समाज की सभी दिशाओं के लोग अपने अपने स्वार्थों की सचेष्टता में राजनीतिक बन गये हैं। राजनीति में अधिक बाढ़ आ जाने पर

उसका गँदला रूप साम्प्रदायिकता या छोटी-मोटी पार्टियों के रूप में ही प्रकट होता है। आश्चर्य तो तब होता है जब प्रगतिशील कहे जानेवालों में भी संस्कृति के नाम पर साम्प्रदायिक संस्थाओं के सहायक निकल आते हैं और कांग्रेस (गांधी) को समाजवादी और साम्प्रदायिक दोनों ही बाजुओं से आघात पहुँचाते हैं!

[१५]

हाँ तो, क्रांतिकारी पार्टी के नवयुवक (उस पार्टी के विफल हो जाने पर) कांग्रेस में आ शामिल हुए। यहाँ उनका दल कांग्रेस से भिन्न उद्देश्य को लेकर कांग्रेस से अभिन्न हुआ। अब तक वे कांग्रेस से विच्छिन्न थे,किन्तु उन्होंने पाया कि कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जहाँ वे अपनी विफल शक्तियों को सफल बना सकते हैं। दूसरे शब्दों में, उहोंने राष्ट्र को कांग्रेस (महात्मा के भीतर पाया। जब कि कांग्रेस अपने लक्ष्य के लिये जनता को आन्दोलित करती आई, उहोंने कांग्रेस को ही आन्दोलित करने का निश्चय किया। लक्ष्य (समाजवाद) वे अपना रखना चाहते और कांग्रेस को उस लक्ष्य का साधन बनाना। इनका लक्ष्य एक दम राजनीतिक है जब कि कांग्रेस एक नैतिक संस्था भी है। कांग्रेस अपने देश की श्रमिक संस्कृति (परिश्रमी जीवन और उसका नैतिक लक्ष्य) को अग्रसर करना चाहती है, समाजवादी पार्टी यान्त्रिक सभ्यता (मशीनी जीवन और उसकारा जनैतिक लक्ष्य) का ही नवीन नियोजन करना चाहती है, समाजवाद के रूपमें। यहाँ

कांग्रेस और समाजवादी पार्टी में श्रम और उसके लक्ष्य में मूलत: अन्तर है, तदनुरूप दोनों के साधनों के आकार-प्रकार और उनके सामाजिक लक्ष्य में भी।

सम्प्रति प्रगतिशीलता के नाम पर जो उच्छृङ्खलता चल रही है उसके विपरीत हम समाजवाद को एक तात्विक प्रश्न के रूप में गान्धीवाद के साथ रख सकते हैं। दोनों के साधनों में यह एक स्पष्ट अन्तर है कि समाजवाद पूँजीवाद को मिटाकर अपनी लक्ष्य-सिद्धि करना चाहता है, गांधीवाद सीधे पूँजीवाद के साथ कोई द्वन्द्व नहीं रखता, वह तो पूँजीवाद की जहाँ जड़ है उस जनता को ही उसके घरेलू रचनात्मक कामों में लगाकर नागरिक शोषण का अन्त कर देना चाहता है। गांधीवाद जिस जनता को कार्यक्रम देता है, उस जनता को अपना कार्यक्रम देने के लिए समाजवाद के पास कुछ नहीं है। मिलों और फैक्टरियों के द्वारा जनता जिस समाजवादी कार्यक्रम को अपनायेगी उसके द्वारा वह अपने जीवन का निश्चिन्त उपभोग नहीं कर सकेगी, वह व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता में पड़कर अपने लक्ष्य में अर्थ-प्रधान हो जायगी। उसकी यही प्रतिद्वन्द्विता उसे समाजवादी से साम्राज्यवादी भी बना सकती है। इसी लिए गांधीवाद पहले से ही गृहस्थों के जीवन के अनुरूप समाज-रचना कर रहा है। गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं में स्वावलम्बी हों, राजनीति पर अवलम्बित न रहें, यही उसका विशेप प्रयत्न है। गृहस्थ को धन तो चाहिए ही, किन्तु धन ही उसका

लक्ष्य नहीं है, उसके जीवन में वह चिन्तन भी है जो उसके समाज को मनुष्य का समाज बनाता है। गांधीवाद गृहस्थ को वही धन और चिंतन देता है। इसके विपरीत समाजवाद धन को अर्थात् जीवन के साधन को ही प्रधानता देता है, जिसके कारण उसका साध्य (वर्गहीन सामाजिक सुख) भी धन से ही संचालित होता है, मानव-मन से नहीं। फलतः समाजवाद पशु (शारीरिक) आकांक्षाओं का ही एक नवनिर्मित रूप है।

समाज की गार्हस्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति गांधीवाद कहाँ तक कर सकता है और कहाँ तक समाजवाद, यह एक विवादात्मक प्रश्न है, जिसका निर्णय दोनों के सामाजिक प्रयोगों को देखकर ही किया जा सकता है। गांधीवाद को अभी अपने प्रयोगों के लिए अवसर प्राप्त है, समाजवाद के लिए नहीं। कारण, देश पराधीन है, सरकार पूँजीवादी है, उसके द्वारा परिचालित राजनीतिक ढाँचे में समाजवादी कार्यक्रम को सामने लाने का क्षेत्र नहीं है। बिना शासन-तंत्र के सहयोग के समाजवाद का कार्यक्रम चल नहीं सकता, क्योंकि उसके लिए जिस बड़े पैमाने पर पूँजी तथा पूँजी के नवीन उपयोग के लिए राजनीतिक सुविधा की आवश्यकता है वह देश की पराधीनता में प्राप्त नहीं है। गांधीवाद का कार्यक्रम ऐसा है कि वह शासन-तंत्र के सहयोग के बिना भी चलता है, क्योंकि जिस जनता में वह काम कर रहा है, जीवन के साधनों का उपार्जन उसी के विस्मृत स्वावलम्बन

(घरेलू उद्योग-धंधों) से करा रहा है। अतः समाजवादियों या अन्य उग्रपंथियों को गांधीवाद से प्रतिस्पर्द्धा करने में अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए क्योंकि उनके पथ का बाधक गांधीवाद (स्वावलंबी और सांस्कृतिक राष्ट्र) नहीं, साम्राज्य-वाद है। साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने में उन्हें गांधीवाद से सहयोग करना चाहिए। जब तक देश स्वाधीन नहीं हो जाता, तब तक समाजवाद को कांग्रेस के साथ सहयोग तो करना ही चाहिए। साथ ही देश की पराधीनता में जब तक समाजवाद कोई निजी कार्यक्रम कार्यान्वित नहीं कर पाता तब तक उसके सामने यह एक उपयोगी कार्य है कि देश में साम्प्रदायिकता अथवा अन्य किसी कारण से उत्पन्न संकीर्ण मनोवृत्तियों को दूर करने में लग जाय, आर्थिक ढाँचे में राजनीतिक प्रश्नों को ठीक ठीक समझने के लिए नई पीढ़ी में नवीन दृष्टिकोण जाग्रत करे। सामाजवाद नवयुवकों को विस्तृत राजनीतिक पैमानेपर उठाकर साम्प्रदायिकता को निर्मूल कर सकता है, नवयुवकों में नवीन विवेक जग जाने पर साम्प्रदायिक लोग रूढ़ियों की तरह स्वयं ही मृत हो जायँगे। सामाजवाद है तो राजनीतिक प्रयत्न, किन्तु राजनीतिक रूप में वह एक प्रकार की सामाजिक क्रान्ति है। सामाजिक संकीर्णता के नाम पर राजनीतिक अवरोधों के उन्मूलन में समाजवाद जबरदस्त सहायक हो सकता है।

---

[१६]

हां, यह भी एक प्रश्न है कि समाज को उसके पुराने आकार-प्रकार में ही नवजीवन देना है या उसे नवीन रचना-द्वारा बिलकुल परिवर्त्तित कर देना है। यह प्रश्न कुछ सांस्कृतिक-सा हो जाता है, केवल राजनैतिक नहीं। ईश्वर, धर्म और भाग्य की विश्वासी जनता को एकदम क्रान्तिकारी मनोवृत्ति का बना देना असंभव नहीं, किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्रान्तिपूर्ण जीवन ही हमें अभीष्ट है, या उसमें कुछ 'कान्ति' भी होगी। कमनीयता के लिए या सामाजिक स्निग्धता के लिए हमें क्रान्ति के भीतर संस्कृति का आत्मद्रवित रस सञ्चारित रखना होगा। संस्कृति के नाम पर समाज में जो पूँजीवादी विकृति है, उसे समाजवाद अपनी क्रान्ति से अवश्य निर्मूल कर दे, किन्तु संस्कृति का आध्यात्मिक रूप गांधीवाद के रूप में बनाये

रखने में ही समाजवाद का कल्याण है। जीवन को हम कोरी सैनिक शुष्कता में नहीं, बल्कि एक गार्हस्थिक मनोहरता में देखना चाहते हैं, जिसमें अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष सब कुछ है। जीवन की इन निधियों में पूँजीवाद के कारण जो असन्तुलन या वैषम्य आ गया है उसे दूर करना समाजवादी क्रांति का ही काम है, किन्तु नवीन निर्माण को नैतिक बल (आंतरिक स्थायित्व) गांधीवाद से ही मिलेगा। हमारा आदर्श गांधीवाद रहेगा, समाजवाद उस आदर्श का राजनैतिक प्रतिपालक बन सकता है।

राजनीति में जब तक शिकारियों का-सा दाँव-पेंच या दौरात्म्य है, तब तक वह समाजवाद में तो क्या, संसार के किसी भी बड़े से बड़े शासन-तंत्र में लोक-भक्षिणी है। कठोर वास्तविकता के आधार पर खड़ी राजनीति अभ्यन्तर में किसी कोमल आदर्श को सँजोकर ही जीवित रह सकती है, अन्यथा उसके द्वारा एक के बाद एक नई नई क्रांतियाँ उठती रहेंगी और संसार ज्यों का त्यों पुराने इतिहास को दुहराता रहेगा। समाजवाद भी एक बड़ी क्रांति ही है, वह क्रांति मानवता के स्वर को लेकर उठी है, अच्छी बात है; किन्तु राजनीतिक बर्बरता उसे बरबाद न कर दे, इसलिए गांधीवाद को हृदयंगम करना होगा। समाजवाद समुद्र की ऊपरी सतह का ज्वार (प्रगति) न हो, बल्कि आंतरिक सतह की स्वाभाविक गति भी हो, इसी लिए उसे अपने अभ्यन्तर में गांधीवाद को लक्ष्यमान् रखना होगा। गांधी ने राजनीति में से दौरात्म्य को

निकालकर उसे भी माहात्म्य प्रदान कर दिया है, इसी लिए वह महात्मा है।

हमारे देश में धर्म (संस्कृति) साम्प्रदायिकता के रूप में बदनाम है। जो उससे ऊब चुके हैं, वे गांधीवाद को भी गहराई से समझने के लिए तैयार नहीं हैं। किन्तु साम्प्रदायिकता जिस दैवी संस्कृति का विकृत रूप है, उसका सुकृत रूप गांधीवाद ही है। यहाँ हमें यह समझ लेना चाहिए कि गांधीवाद धार्मिक क्षेत्र में न तो हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग की तरह साम्प्रदायिक है, न राजनीति में लिबरलों की तरह आत्मलिप्सु और न क्रांतिकारियों की तरह उत्तेजनाशील। वह एक नैष्ठिक पुरुष की भाँति धीरोदात्त है। यदि अतीत के श्रेष्ठतम सांस्कृतिक पुरुष, चाहे वे हिन्दू मुसलमान या ईसाई कोई भी हों, आज के राजनीतिक जगत् में अवतीर्ण होते तो वे गांधी के साथ होते। यों तो, स्वर्गीय इलाहाबादी अकबर के शब्दों में 'बुद्धू मियाँ भी हजरते गांधी के साथ हैं', जैसे, समाजवाद में भी बहुत से ऐरे-गैरे पँचकल्यानी शामिल हैं। हमें उनसे कुछ नहीं लेना-देना है। हाँ, हमें इनके ऊपर अनुशासन रखने की आवश्यकता है।

* * *

हमारी अब तक की सम्पूर्ण प्रगति के निष्कर्ष-स्वरूप हमारे सामने साफ साफ तीन बातें हैं—(१) संस्कृति, (२) स्वाधीनता, (३) आर्थिक समता।

इन्हीं को लेकर आज हमारी राजनीति में तरह-तरह का अर्थ-अनर्थ हो रहा है, अतः इन्हें ठीक ठीक रूप में पहचानने का हमें प्रयत्न करना है।

पहिले संस्कृति की बात लें, यही जीवन की सबसे बड़ी बात है। मनुष्य के सम्पूर्ण पार्थिव प्रयत्नों के बाद जो सत्य शेष रह जाता है, वही संस्कृति है। सभ्यता पार्थिव है, संकृति अपार्थिव। सभ्यता बदलती रहती है, किन्तु संस्कृति शाश्वत रहती है। मनुष्य का पार्थिव जीवन उसका सीमित अस्तित्व है, किन्तु संस्कृति उसे सृष्टि की उस निरन्तरता का चिन्तन देती है जिससे मनुष्य को उसके प्रयत्नों में एक अनन्त उत्तरदायित्व का बोध होता है। जैसे व्यक्ति अपनी परिधि में पूर्ण होकर भी समाज का एक अपूर्ण अंग है और समाज अपने में पूर्ण होकर भी विश्व की एक अपूर्ण सीमा मात्र, उसी प्रकार एक सम्पूर्ण विश्वजीवन असीम जीवन का एक अपूर्ण क्रम मात्र है। असीम जीवन के प्रति मनुष्य की जागरूकता ही उसकी संस्कृति है।

त्रिगुण सृष्टि में मनुष्य की श्रेष्ठता उसके सात्त्विक गुण के कारण है। तामसिक और राजसिक गुण तो पशुओं में भी हैं, उनके संसार में भी राजा हैं, प्रजा हैं, नर हैं, मादा हैं, किन्तु उनका जीवन हमें कितना अशोभन लगता है। मनुष्य ने जब पशु-कोटि से ऊपर का समाज बनाया तो सत्त्वगुण (जीवन का सार) लेकर ही अपनी संस्कृति की रचना की। संस्कृति के स्पर्श

से कभी पशु-पक्षी भी मनुष्य के पारिवारिक बन गये थे। यदि आज हमारा संसार विक्रान्त है तो समझना चाहिए कि हमारे भीतर से संस्कृति (सत्त्वगुण) का लोप हो गया है। बड़े से बड़े राजनीतिक प्रयत्न जीवन को तनिक भी सन्तोष नहीं दे सकते, जब तक समाज में मानवता नहीं आती और यह मानवता संस्कृति की ही सन्तान है। राजनीति हमारे पार्थिव जगत् को व्यवस्थित कर सकती है, किन्तु उस पार्थिव जगत् में मनुष्यों को जन्म संस्कृति ही देगी। राजनीति पाशविकता के शासन के लिए है, संस्कृति मनुष्यता के प्रतिष्ठापन के लिए। राजनीति और संस्कृति ये दोनों मिलकर ही इस त्रिगुण सृष्टि का सन्तुलन बनाये रह सकती हैं। आज की समस्याओं में राजनीति ने समाजवाद दिया है और संस्कृति ने गान्धीवाद। समाजवाद वर्त्तमान का निचोड़ है, गान्धीवाद अतीत का सार। अतीत और वर्तमान इन दोनों के संयोग में ही भव्य भविष्य है।

हम यन्त्र-निर्मित वस्तुओं की तरह वर्तमान की ही उपज नहीं हैं, हमारा अस्तित्व पुरातन है। वर्त्तमान संसार आदिम युग से बहुत आगे जरूर जा चुका है, किन्तु उसमें मनुष्य ने आत्मचेतना को मिटा कर जड़ता को प्रधानता दे दी है, अपने अस्तित्व को उसने यन्त्रों में रेहन कर दिया है। वह स्वयं नहीं चल रहा है, यन्त्र चल रहे हैं; मानों जीवन्मृत हो मनुष्य अपने ही आविष्कृत ताबूतों में कब्र की ओर जा रहा है। किसी बर्बर-युग में मनुष्य मनुष्य का

शिकार करता था, आज मनुष्य अपनी बुद्धि से स्वयं अपना ही शिकार कर रहा है! इस बुद्धि-कौशल का नाम है विज्ञान। ज्ञान का अतिक्रमण कर यह विज्ञान आया है। जिस यान्त्रिकता, जिस जड़ सभ्यता को अपनाकर हम पुरातन की अपेक्षा आज के प्रामाणिक मनुष्य बनते जा रहे हैं, उसकी उन्नति क्या यहीं तक रुकी रहेगी?* उन्नति के क्रम में जिस प्रकार विज्ञान ने ज्ञान का अतिक्रमण किया है, उसी प्रकार विज्ञान का भी अतिक्रमण क्या नहीं होगा? विज्ञान के आगे है विनाश। पुराने लोग जिसे प्रलय-काल कहते हैं, उनके इस अन्धविश्वास में क्या विज्ञान के भविष्य का ही संकेत नहीं है?

आज हम उस सीमा पर पहुँच गये हैं, जहाँ वैज्ञानिक सभ्यता को रुक कर कुछ सोचना है।

आदिम युग में यदि हम घोर अन्धकार में थे तो इस वैज्ञानिक युग में घोर चकाचौंध में पड़ गये हैं। समुचित प्रकाश कहीं बीच के पथ में छूट गया है। हमें उसी को खोजना है।

आदिम युग की अज्ञान-जन्य और आधुनिक युग की विज्ञान-जन्य विकृतियों को तिलाञ्जलि देकर हमें किसी प्रज्ञान-युग को पाना है। अज्ञान से निकल कर मनुष्य ने जिस अन्तर्ज्ञान को प्राप्त किया था, आज विज्ञान को रुककर उसी अन्तर्ज्ञान को हृदयंगम करना है।

आदिम युग की अव्यवस्था के बाद मनुष्य ने एक ऐसा मनो-विकास भी पाया था जिसने उसके सम्पूर्ण पार्थिव प्रयत्नों में

*विज्ञानने 'ऐटम बम'का आविष्कार कर जापान को विध्वस्त कर दिया।

एक सुविवेक ला दिया था, वह मनोविकास ही संस्कृति है। आज विज्ञान को भी अपने प्रयत्नों में उस मनोविकास को भूल नहीं जाना है।

पार्थिव प्रयत्न तो हमें आज की समस्याओं में से लेना है और मनोविकास अतीत की संस्कृतिसे। पार्थिव प्रयत्न अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य है, संस्कृति 'अन्तर'-राष्ट्रीय धर्म। आज धर्म कर्त्तव्य-हीन है और कर्त्तव्य धर्म-हीन। कर्त्तव्य और धर्म के एकत्व में ही मानवता का मंगल व्यक्तित्व है।

राजनीति में संस्कृति का समावेश हो जाने से मानवता का व्यक्तित्व स्थापित हो सकता है। गांधीवाद इसी दिशा में अग्रसर है। गांधीवाद और समाजवाद में मुख्य अन्तर यह है कि गांधीवाद में राजनीति संस्कृति से अनुशासित है और समाजवाद में विज्ञानसे सञ्चालित। संस्कृतिसे विच्छिन्न होकर समाजवाद स्वयं तो लौह-यथार्थ है ही, विज्ञान भी वज्र-यथार्थ की भाँति उसके साथ है। एक तो यों ही मतवालापन, तिसपर यह सर्प-दंश!

इस प्रकार समाजवाद ने मानों साम्राज्यवाद की ही एक बड़ी विभीषिका (विज्ञान) के साथ सन्धि की है, जैसे रूस ने जर्मनी से। यह संधि सामयिक हो सकती है, स्थायी नहीं।* उचित तो यह जान पड़ता है कि राजनीति संस्कृति से संयमित हो और विज्ञान राजनीति से अनुशासित। इस प्रकार संस्कृति के ही मूलस्पन्दन से हमारे सम्पूर्ण पार्थिव प्रयत्न लोक-कल्याण की ओर अग्रसर होंगे,

* रूस और जर्मनी की सन्धि टिक नहीं सकी।

यथा, चेतना के अन्त:स्पर्श से समस्त मानव-शरीर। राजनीतिक और वैज्ञानिक यथार्थताएँ आज के कंगाल कंकालों की सुदृढ़ अस्थियाँ तो बनें किन्तु वे प्रेतों की न हों, मनुष्यों की हों। और तब गान्धीवाद और समाजवाद में कोई अन्तर नहीं रह जायगा, दोनों एक दूसरे में घुल-मिल जायँगे।

भौगोलिक रूपान्तर से संस्कृति के नाम-रूप में भी अन्तर है, संस्कृति ने मजहबों का रूप-रंग ले लिया है। किन्तु मूलत: मानव-संस्कृति सर्वत्र एक है। मज़हब व्यक्तिगत विश्वास हैं, जैसे अशन-वसन में अपनी-अपनी पसन्द। सार्वजनिक रूप मजहबों का सार-रूप (सांस्कृतिक तत्त्व) होगा। राजनीति पर उसी सार-रूप का उत्तरदायित्व रहेगा, न कि मज़हबों का। अतएव, राजनीति में संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्तियों के कारण ही जिन्हें संस्कृति से उदासीनता है, उन्हें साम्प्रदायिकता का ही विरोध करना चाहिए, संस्कृति का नहीं।

गांधीवाद अपने विश्वासों की इकाई में उसी विश्व-संस्कृति के लिए लक्ष्यमान् है। जिस प्रकार कोई वैज्ञानिक पृथ्वी के एक खण्ड में कोई भूतत्त्व प्रकाशितकर अखंड विश्वको एक आविष्कार सुझाता है, उसी प्रकार गांधीवाद ने राष्ट्रीयता और संस्कृति की भारतीय इकाई में अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-संस्कृति को एक मानसिक तत्त्व दिया है। स्वयं अपने दैहिक अस्तित्वमें गांधी जिसप्रकार विश्व-चिन्तन की ही इकाई है, उसी प्रकार उसकी राष्ट्रीयता और संस्कृति भी।

गांधी की राष्ट्रीयता एक देश के माध्यम से विश्वमानव की आकांक्षाओं और विश्वासों का प्रतीक है। गांधी की राष्ट्रीयता और संस्कृति तभी तक एकदेशीय है, जब तक कि अन्य अनेक राष्ट्र अपनी राजनीतिक कुटिलताओं में मानवता के विकास के लिए अनुर्व्वर हैं। उचित समय आने पर गांधीवाद विश्व-व्याप्त हो जायगा। विश्व की इकाई भारत गांधी का उद्गम है। उद्गम तो सीमित होता ही है, किन्तु असीम उसी का प्रसार बनता है।

गांधीवाद की विचारधारा कुटियों से लेकर महलों तक एक समान बहती है, जैसे कभी बुद्ध की विचार-धारा प्रवाहित हुई थी। इस धारा को महलों को मिटाने की ज़रूरत ही नहीं पड़ी. इसके पावन संसर्ग से महल स्वयं ही कुटी बन गये।

[१७]

फिर भी गांधीवाद के सामने यह एक प्रश्न है कि शताब्दियों तक बौद्ध साम्राज्य रहने पर भी जीवन में यह वैषम्य क्यों आ गया कि आज समाज स्पष्टतः दो भागों में विभक्त हो गया है—पूँजीपति और गरीब या शोषक और शोषित? एक युग में मनुष्य की मनुष्यता (दया, धर्म, करुणा, ममता, सहानुभूति, समवेदना इत्यादि) जाग्रत् करके भी बौद्ध साम्राज्य में क्या खामी रह गई थी कि मनुष्य फिर वैषम्य की ओर चला गया? बौद्धमत ने समाज की आन्तरिक शुद्धि तो कर दी थी, किन्तु बाह्य वर्गीकरण रङ्क और राव के रूप में ज्यों का त्यों बना हुआ था। उसने

मनुष्य को निवृत्तिप्रधान बनाया, किन्तु प्रवृत्ति-मूलक मनुष्य के लिए किसी भौतिक नियमन को जन्म नहीं दिया। इसी कारण, जब तक बौद्ध साम्राज्य था, तब तक समाज श्रद्धापूर्वक मानवता की ओर अग्रसर रहा, किन्तु उससे भिन्न साम्राज्यों के आते ही समाज का स्वरूप बदल गया। बौद्ध साम्राज्य के बाद मनुष्य की भौतिक प्रवृत्तियों को प्रतिद्वन्द्विता मिली, फलत: वाह्य वर्गीकरण ने ही जोर पकड़ा। बौद्ध साम्राज्य में यदि राव रङ्कता को अपनाते थे तो परवर्त्ती साम्राज्य में रङ्क भी राव हो जाने के लिए ही प्रयत्नशील थे। यह दूसरी बात है कि सभी उमराव नहीं हो सके (सभी उमराव हो जाते तो इस वर्गीकरण की सार्थकता क्या थी !); जो नहीं हो सके उनकी नस-नस में भी एक दरबारी राजनीति प्रवेश कर गई। और आज का संसार क्या है ? पशुबल से सञ्चालित साम्राज्यों का भूगोल और इतिहास। ऐसे समय में फिर आंतरिक शुद्धि को लेकर गांधीवाद प्रकट हुआ है। गांधीवाद के रूप में मानो बुद्धिज्म ही अपने बाद के संसार को देखने के लिए आया है। अपने बाद के संसार के नये प्रश्नों को उसे समझना है, अगर यह अवसर गांधीवाद ने खो दिया तो संसार फिर उसी रफ्तार से चलेगा जिस रफ्तार से बौद्ध साम्राज्य के बाद चला आया है।

बुद्धिज्म की भाँति गांधीवाद भी निवृत्तिप्रधान है। वह भी आंतरिक शुद्धि पर ज़ोर देता है। जब हिटलर ने ब्रिटेन पर चढ़ाई

की, तब उसकी उग्र पार्थिव लिप्सा को लक्ष्य कर महात्मा गांधी ने लिखा था—"तलवार के बल से जो विजय मिलती है, वह तलवार के ही बल से निकल भी जाती है।" यह सत्य है, और इतिहास में हम यही देखते भी आ रहे हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि इतिहास का यह क्रम क्यों है और उसका अन्त कहाँ है? तलवार के बल पर शासन करनेवालों के लिए क्या कोई ऐसी राजनीति नहीं पेश की जा सकती जो कि समाज की रक्षा करे, न कि समाज में पशु-बल का प्रसार? इसके लिए समाज में ही शक्ति और सामर्थ्य लानी होगी। समाज जब तक निर्बल और निःसहाय है तभी तक उसकी रक्षा के नाम पर इतने युद्ध-विग्रह होते रहते हैं। समाज जो कुछ देता है, राजनीति उसी को सँजोकर श्रीसम्पन्न होती है। राजनीति तो समाज का केन्द्रीकरण मात्र है। राजनीति की नैतिक अकिञ्चनता, सामाजिक अकिञ्चनता की सूचक है। हमें वह व्यवस्था ही तोड़ देनी होगी जिसके कारण शोषक और शोषित किंवा विजयी और विजित का प्रादुर्भाव होता है। यह पाशविक राजनीति विकृत अर्थशास्त्र पर चल रही है। अर्थशास्त्र को नवीन रूप देकर राजनीति को नवीन आकार देना है। समाजवाद इसी के लिए प्रयत्नशील है। आज निवृत्ति (गांधीवाद) के सम्मुख प्रवृत्ति अपना एक नया डिजाइन (समाजवाद) लेकर उपस्थित हुई है; गांधीवाद को इसे परखना है। जहाँ तक मनुष्य के लौकिक जीवन-निर्वाह का प्रश्न है, उसे धर्म या किसी के दया-दाक्षिण्य

पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। धन को धर्म के हाथ धरोहर नहीं रखा जा सकता। महात्मा गान्धी समाज में पूँजीपतियों के अस्तित्व को मानते हैं और उन्हें सामाजिक धन के एक धार्मिक ट्रस्टी के रूप में देखना चाहते हैं। धन उनके हाथ में रहेगा और वे उसका उपयोग धार्मिक भाव से करेंगे, अनासक्त रहकर। किन्तु इस व्यवस्था में उस स्थिति का ध्यान कहाँ है, जब मनुष्य अनासक्त न रहकर लोलुप हो जाता है? जैसे कि आज है। अतएव धन को धर्म के साथ न बाँधकर नवीन अर्थशास्त्र के सिपुर्द करना अधिक उचित जान पड़ता है।

लौकिक जीवन-निर्वाह में मनुष्य किसी की धार्मिक संरक्षकता पर क्यों आश्रित रहे?

समाजवाद पार्थिव रोग का पार्थिव निदान है, गान्धीवाद स्वस्थ पार्थिवता (सामाजिकता) की अपार्थिव चेतना। अतः उचित तो यह जान पड़ता है कि समाजवाद सामाजिक स्वास्थ्य के लिए सर्वसुलभ साधन दे और गान्धीवाद उस साधन को साध्य की ओर उन्मुख रखे। गान्धीवाद को एक नवीन राजनीति का प्राण बनना है, बुद्ध को नवीन शरीर धारण करना है। एक दिन जिस प्रकार साम्राज्यवाद ने बुद्धिज़्म को पाया था उसी प्रकार समाजवाद गान्धीवाद को पा जाय, बस, इसी में विश्वका नवजीवन है।

[१८]

गान्धीवाद और समाजवाद का अन्तर टाल्स्टाय और उनके बाद के बोलशेविकों तथा अन्य उग्र क्रान्तिकारियों का अन्तर है। दोनो पूँजीवाद की विकृतियों के विरोधी हैं, किन्तु एक में नैतिकता (आन्तरिकता) है दूसरेमें राजनैतिकता (बाह्य उत्तेजना)। गांधी-वाद समाजवाद की तरह केवल प्रगतिशील नहीं, बल्कि जीवन के पथ में एक लंगर (सांस्कृतिक टिकाव) भी है, जो गम्भीरता-पूर्वक आगे की मञ्ज़िल को सोचने समझने का अवसर लेता है। समाजवाद प्रगतिशील है, गतिधीर नहीं; वह तात्कालिक सफलता को देखता है, सफलता के स्थायित्व को नहीं। भविष्य की प्रतिक्रियाओं का उसे ध्यान नहीं। टाल्स्टाय के बाद रूस में क्रान्ति हुई। सोवियट सरकार भी स्थापित हुई। किन्तु संघर्ष अभी मिटा नहीं। संघर्ष के अन्तर्राष्ट्रीय बीज शेष हैं। निरे राजनीतिक आधारों पर यह संघर्ष निःशेष होने को नहीं। राज-नीतिक आधार पर संघर्ष लुप्त होकर गुप्त हो सकता है,किन्तु समय पर प्रतिक्रिया-स्वरूप फिर प्रकट हो सकता है, जैसे सन् १९१४ का महायुद्ध अब पुनः सन् ४० में प्रकट हुआ है। इसका क्या इलाज ? आवश्यकता है नैतिक आधार की, आन्तरिक शुद्धि की। यही है गांधीवाद।

आज तो निर्लज्ज राजनीति के रूप में लोलुपता विश्वमञ्च पर सुनीति को,साधना को जलील कर रही है। इस बर्बरता से विवश

होकर यदि साधना (गांधीवाद) कहीं अदृश्य होगी तो लोलुपता के अन्तर्गह्वर में ही, जहाँ बाहर से दिखाई न पड़ने पर भी वह भीतर ही भीतर उसके भौतिक ढाँचे का कायाकल्प करेगी।

गांधीवाद को हम मिटा नहीं सकते। हाँ, उसे कुछ जोरदार बना सकते हैं। टाल्स्टाय गांधी से अधिक जोरदार हैं जब कि वे खुलकर पूँजीपतियों का विरोध करते हैं। अन्य सब बातों में वे गांधी के समान हैं। मानव-शोषक वैज्ञानिकों और धर्माचार्यों का चर्खे और हरिजनोद्धार द्वारा यदि गांधी ने विरोध किया है तो अपने देश के अनुरूप टाल्स्टाय ने भी। यों कहें कि टाल्स्टाय एक आस्तिक समाजवादी हैं। आस्तिक हैं इसलिए उनके समाज में मनुष्य का महत्व है, न कि यंत्रों का। उनका श्रम भी मनुष्यों का श्रम है। नास्तिक समाजवादी जब कि जीवन की जड़ आवश्यकताओं में ही सीमित हो जाता है, आस्तिक समाजवादी जड़ आवश्यकताओं से जीवन के उपादान लेकर जीवन के साध्य (चैतन्य) की ओर अग्रसर होता है।

हाँ, कलाकार के रूप में टाल्स्टाय ने मानव-प्रवृत्तियों को स्वीकार किया है। गांधी की भांति वे निवृत्ति-प्रधान नहीं, बल्कि हृदय-हीन विलासिता की ओर ले जानेवाली पूँजीवादी विकृतियों के विरोधी हैं। साथ ही नास्तिक समाजवादियों की जड़ आवश्यकताओं में ही लिप्त हो जाने के भी विरोधी हैं। जीवन में जहाँ वे समान श्रम और आवश्यकताओं (प्रवृत्तियों) के हामी हैं, वहाँ

वे एक संयमित समाजवादी हैं, और जहाँ आंतरिक जागरूकता के उद्‌बोधक हैं वहाँ आस्तिक हैं। इस प्रकार टाल्स्टाय समाजवाद और गांधीवाद के बीच एक मर्यादित माध्यम या संधि-सूत्र हो सकते हैं।

टाल्स्टाय अब तक की पूँजीवादी व्यवस्था को कृत्रिम मिल्कियत कहते हैं। वे इस कृत्रिम मिल्कियत के घोर विरोधी हैं। अपनी कसौटी पर उन्होंने अब तक के साहित्य, समाज, राजनीति और विज्ञान को परखकर उनमें खोखलापन पाया है।

टाल्स्टाय कृत्रिम मिल्कियत को प्राकृतिक श्रम से दूर करना चाहते हैं और प्राकृतिक श्रम को ईश्वरोन्मुख करना चाहते हैं। गांधीजी भी श्रम-धर्म का प्रचार करते हैं, किंतु उनकी दृष्टि में कृत्रिम मिल्कियत (पूँजीवादी व्यवस्था) कुछ अंशों में बनी रहेगी, जिसे वे कृष्णार्पित (जनता-जनार्दन को समर्पित) ट्रस्ट के रूप में देखना चाहते हैं। एक प्रकार से वे कृत्रिम मिल्कियत का सदुपयोग दया-दाक्षिण्य द्वारा चाहते हैं, उसे धर्मदाय बनाकर। यही तो अब तक होता आया है, इसीका विकृत परिणाम आज का व्यक्तिगत स्वत्वाधिकार या कृत्रिम मिल्कियत है। मनुष्य छिपा हुआ पशु ही तो है, वह किसी भी दिन अनियंत्रित होकर मानुषिक स्वत्वों को पाशविक स्वत्व बना सकता है, जैसे कि आज बना रखा है। अतएव पाशव-मनुष्य को एक सामाजिक नियम-बद्धता में बाँध देने से ही वह मानवीय व्यवस्था का आज्ञाकारी

रह सकता है। और यह मानवीय व्यवस्था ही टाल्स्टाय का प्राकृतिक श्रम है। श्रम तो पशु भी करते हैं किन्तु मानव-श्रम प्रकृति की ही भाँति लोक-कल्याणकारी एवं ईश्वरोन्मुख होगा। वह श्रम यान्त्रिक होकर पाशविक नहीं, बल्कि दैहिक होकर हार्दिक होगा। इस हार्दिक श्रम द्वारा मनुष्य आत्मनिर्भर होगा, परस्पर का शोषण बन्द होकर सामाजिक सहयोग बढ़ेगा। फिर ये हड़ताल वगैरह, जो कृत्रिम मिल्कियत के परिणाम हैं, नहीं दिखाई पड़ेंगे।

टाल्स्टाय जीवन के मौलिक (आध्यात्मिक) रूप के समाजवादी हैं। कम्यूनिस्ट जीवन के वैज्ञानिक रूप के समाजवादी। कम्यूनिस्टों द्वारा जीवन नहीं बदलता, बल्कि जीवन की विकृत विषमताओं का ही समान-विभाजन होता है। इन्हीं विकृत विषमताओं का गान्धीजी प्रज्ञान से, कम्यूनिस्ट विज्ञान से नव-संस्कार करना चाहते हैं। किन्तु टाल्स्टाय प्राकृतिक जीवन द्वारा इन विषमताओं के अस्तित्व को ही निमूल कर देना चाहते हैं। गांधीजी ने तो कुछ पूँजीवाद के साथ और कुछ विज्ञान के साथ एक रियायती दृष्टिकोण बना रखा है, किन्तु टाल्स्टाय ने पूँजीवाद और विज्ञान के लिए जरा भी मुरौवत नहीं रखी है। यदि क्रान्ति का अर्थ आमूल-परिवर्त्तन अथवा नवजीवन का प्रवर्त्तन है तो टाल्स्टाय कम्यूनिस्टों से भी अधिक क्रांतिकारी और भविष्य-द्रष्टा हैं। जो लक्ष्य गांधीवाद का है वही टाल्स्टाय का भी; किंतु गांधीवाद को

मानो पिछले दलदल से निकालने के लिए उन्होंने स्पष्ट रूप से पूँजीवाद और विज्ञान का विरोध कर दिया है । इस विरोध में उनका समाजवादी रूप सामने आता है, किंतु उनका दृष्टिकोण कम्यूनिस्टोंसे सर्वथा भिन्न और गाँधी से सर्वथा अभिन्न है। इस प्रकार टालस्टाय गांधीजी के ही एक पूर्ववर्ती समाजवादी संशोधक हैं। एक ओर वे विषमता (विज्ञान) पर ही अवलम्बित साम्यवादियों का विरोध कर जाते हैं, दूसरी ओर गांधीवाद को समाजवाद के उचित स्वरूप का निमंत्रण दे जाते हैं।

इस समाजवाद के लिए टालस्टाय क्रांतिकारियों के किसी भीषण साधन का नहीं, बल्कि उसी शांत साधन का संकेत दे गये हैं जिसे गांधीजी ने ग्रामोद्योग के रूप में अपना लिया है। साथ ही उनका दृष्टिकोण जरा पौरुपेय हो जाय, इसके लिए समाजवाद को स्वीकार कर, समाजवाद के नाम पर आनेवाली भीषणता से मानो सजग भी कर गये हैं।

जहाँ तक पूँजीवाद का प्रश्न है वहाँ गांधीजी को टालस्टाय की भाँति स्पष्ट होने की जरूरत है, (न होंगे तो उनका प्रतिनिधित्व गलत हाथों में चला जायगा); और जहाँ तक पशु-जीवन के मानव-जीवन बनने का प्रश्न है, वहाँ समाजवादियों को गांधी का नेतृत्व स्वीकार कर लेना है । यही एक मध्यपथ है जिस पर चलकर गांधीवाद और समाजवाद सचमुच संसार के नये इतिहास की रचना कर सकते हैं।

गांधीवाद का कार्यक्रम जिस प्रकार का है, उससे पूँजीवाद स्वयं ही समाप्त हो जायगा और टाल्स्टाय का अभीप्सित समाजवाद प्रकट होगा। इसमें स्वयं गान्धीजी को तो कोई सन्देह नहीं हो सकता, किन्तु उनके बाद गांधीवाद के अनुयायियों को गलतफहमी हो सकती है। इसी लिए उनका प्रतिनिधित्व गलत हाथों में चले जाने की आशङ्का है। * अतएव गान्धीवाद में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जीवन के जिस सात्विक लक्ष्य को लेकर वह बढ़ रहा है, उसके लिए देश-काल के अनुसार उसने जो सामयिक नीति स्वीकार की है, वह अन्तिम नहीं है। जिस प्रकार स्वाधीनता-संग्राम के लिए गान्धीजी ने यह स्पष्टीकरण किया था कि "मुस्लिम लीग से काम चलाने लायक समझौता हुए बिना लीग का भी विरोधी करना पड़ेगा", उसीप्रकार उन्हें यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि समाजोन्नति में बाधक होने पर पूँजीपतियों का भी विरोधी आवश्यक हो जायगा। गान्धीवाद को हम इसी स्पष्टीकरण में कुछ गतिमान् देखना चाहते हैं। अन्यथा, उनके बाद उनके अनुयायी पूँजीपतियों से 'काम चलाने लायक' समझौता करते रहेंगे और निरे समाजवादी पूँजीपतियों के विरोध में जनता का प्रतिनिधित्व अपने हाथ में ले लेंगे, जो कि हमें वांछित नहीं है। उनका समाजवाद हमें नहीं चाहिए। उनका समाजवाद तो

* स्वराज मिल जाने के बाद इस समय कांग्रेसी सरकारें भी गांधीजी की दुहाई देती हैं और समाजवादी पार्टी भी। दोनों एक दूसरे को गांधीवादी दृष्टिकोण से गलत कहती हैं।

पूँजीवाद से ही आगे जा रहा है, उसी विषाक्त जीवन के समतल पर। वह पूँजीवाद से पूर्व के जीवन को स्पर्श नहीं करता, जैसे टाल्स्टाय ने स्पर्श किया है। हमें टाल्स्टाय के समाजवाद की जरूरत है जिसकी आशा हम गांधीवाद से ही कर सकते हैं, इसी लिए उसे कुछ गतिमय देखना चाहते हैं।

[१९]

सत्याग्रह में जो 'आग्रह' का भाव है वही गांधीजी को समझौते के लिए भी प्रेरित करता रहता है, इसके बाद अनिवार्य हो जाने पर ही उनका अहिंसात्मक संघर्ष चलता है। यही बात पूँजीवाद के सम्बन्ध में भी होगी। आवश्यक होने पर गांधीवाद उससे संघर्ष किये बिना नहीं रह सकता। हाँ, अभी पूँजीवाद से संघर्ष का समय नहीं आया है, वह तो कदाचित् वर्तमान महायुद्ध के बाद सारे संसार में एक साथ ही प्रकट होगा। हम जनता को उस दिन के लिए जगाते रह सकते हैं, जैसे सत्याग्रह न छिड़ने पर * भी उसके लिए हम जनता को प्रतिक्षण प्रस्तुत रखना चाहते हैं। स्वाधीनता-संग्राम की विजय के बाद आर्थिक संघर्ष (सामाजवादी प्रश्न) अनिवार्य हो जायगा। तब, हमारा सामाजिक प्रश्न हिन्दू मुस्लिम- अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक तथा स्वदेशी-विदेशी का न होकर विश्व-मानवता का प्रश्न हो जायगा।

* अब १७ अक्टूबर (१९४०) को सत्याग्रह भाषण-स्वातन्त्र्य की माँग के रूप में शुरू हो गया है। शुभारम्भ आचार्य विनोबा भावे के भाषण से हुआ।

फिलहाल, हमारे राष्ट्रीय प्रश्नों का रूप एक पराधीन देश की स्वाधीनता का है। सोवियट क्रान्ति के पूर्व का रूस पूँजीवाद से शोषित अवश्य था, किन्तु पराधीन नहीं था, अतएव वह आसानी से बोलशेविक क्रान्ति की ओर चला गया। किन्तु हमारा देश पराधीन है, अतएव उस तरह की क्रान्ति का अर्थ होगा गृह-युद्ध। इससे स्वाधीनता का संग्राम पीछे छूट जायगा और एक के बाद एक साम्प्रदायिक और राजनीतिक गृह-युद्ध चलते रहेंगे। इस प्रकार हम पर दुतरफ़ा वार होगा, एक तो विदेशी शासन के दमन का और दूसरे अपने ही घर के विग्रह का। हमारी स्थिति बहुत कुछ चीन की सी हो जायगी, अतएव, सम्प्रति हमें एक होकर स्वाधीनता की ओर ही बढ़ना है।

हम इस समय सोवियट क्रान्ति की पूर्व स्थिति में अवश्य हैं, किन्तु उस पथ पर चलकर हमें सोवियट क्रान्ति के बाद की स्थिति (अनवरत संघर्ष) भी नहीं लेनी है। इस प्रकार के संघर्ष से तो क्रान्ति-प्रतिक्रान्ति का क्रम कभी टूटेगा ही नहीं। महात्मा का नेतृत्व ही हमें शान्ति की ओर ले जायगा, क्योंकि गांधीवाद का जन्म क्रान्ति के परिणामों को देखकर हुआ है। हम हद से हद उससे जीवन की समस्याओं को ज़रा नवयुवकों की दृष्टि से भी देखने का तक़ाज़ा कर सकते हैं।

अपने सांस्कृतिक टिकाव में गांधीवाद एक अतीतकालीन पथिक हो सकता है, किन्तु लक्ष्य-च्युत नहीं। बीच बीच में उसका

टिकाव साधनों के संयम और उत्तरदायित्व की गंभीरता को हृदयंगम करने के लिए है। इसके प्रतिकूल उग्र समाजवादियोंकी प्रगतिशीलता में उतावलापन और उच्छृङ्खलता है। कांग्रेस की भाँति ही वे भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ बोलते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि कांग्रेस (महात्मा) जिन दीन-दलितों की ओर से बोलती है वे भी उन्हीं की ओर से बोलते हैं अथवा उनके नाम पर कहीं अन्यत्र से प्रेरित होकर? यह प्रश्न इसलिए भी उठता है कि प्रगतिवादी होते हुए भी उनमें घोर अनैक्य है, जिससे ज्ञात होता है कि उनके प्रेरणा-केन्द्र राजनीतिक स्वार्थों के परस्पर-विरोधी राष्ट्रों में हैं, भारत में नहीं।

हाँ, प्रगतिवादियों की उच्छृङ्खलता देखकर यह स्पष्ट होता है कि उनमें पीड़ित जनों का स्पन्दन नहीं, बल्कि अपनी ही व्यक्तिगत लिप्साओं का विद्वेष और खीभ है। इन्हें हम प्रच्छन्न-अवसरवादी कह सकते हैं, जो अपनी आवश्यकता के अनुसार यथासमय प्रतिक्रियावादी भी हो सकते हैं,जैसे कांग्रेस के ही भीतर से अनेक लोग प्रतिक्रियावादी हो गये। राष्ट्र का सूत्रधार (महात्मा) क्या इनके भरोसे चल सकता, या, इनकी चंचल इच्छाओं के अनु-रूप अपने को पल-पल परिवर्त्तित कर इन्हीं जैसा अस्थिरचित्त हो सकता है?

यह तो समझ में ही नहीं आता कि कोई सच्चा समाजवादी गांधीवाद का क्योंकर विरोधी हो सकता है। वास्तविक समाजवादी

तो गांधीवाद का विरोधी न होकर उसके प्रति अनुरोधी ही होगा। यदि आज समाजवाद को गांधीवाद स्वीकार नहीं करता तो इसके माने यह कि समाजवादियों में तपस्या नहीं है। तपस्वी तो तपस्या से ही आकृष्ट होता है न। चर्खा तपस्या का एक शांत गृह-यज्ञ है, जो उसे ही नहीं स्वीकार कर पाता वह जीवन में कितनी साधना कर सकता है। मानव-स्वावलंबन, संवेदन और सामाजिक एकता के प्रतीक चर्खे और खद्दर को अस्वीकार करनेवाला वैज्ञानिक भले ही हो, किंतु वह लोक-साधक नहीं। वह महत्त्वाकांक्षी हो सकता है, शुभाकांक्षी नहीं। वह वैज्ञानिक सिद्धांतों की ओट में आत्मप्रवंचक है। स्वाधीनता-दिवस की नई प्रतिज्ञा में चर्खा न केवल राजनीतिक (आर्थिक) प्रतीक है, बल्कि इसके भी ऊपर नैतिक प्रतीक है। उसे वही अपना सकेंगे, जिनमें मनोनियोग है, जिनमें अनुशासन के लिए आत्मशासन है। जिनमें मनोनियोग नहीं है उनके लिए चर्खा भी बिना एकाग्रता के जपी गयी सुमिरनी की तरह है।

समाजवाद में जिस दिन एक भी तपस्वी निकल आयेगा (और वह तपस्वी निम्नवर्ग के दीन-दलितों के भीतर से ही आयेगा) उस दिन वही गांधीवाद को समाजवाद में आत्मसात् कर युग को नवजन्म दे देगा। भविष्य में या तो गांधीवाद को समाजवाद में मिल जाना होगा या समाजवाद को गांधीवाद में। संसार की समस्याओं के ये दो परमतत्त्व बिलग-बिलग नहीं रह सकते, ब्रह्म और माया की तरह एक हो जायँगे।

१९ वीं सदी में प्रकट हुइ। १९ वीं सदी स्वयं अपना कोई अस्तित्व लेकर नहीं आई थी, उसने तो केवल मध्ययुग की ओर देखने का अवसर भर दे दिया। इतिहास की लम्बी यात्रा में इसने एक पड़ाव का काम किया था। कुछ प्रकृतिस्थ होकर हमने मध्ययुग के जीवन का निरीक्षण किया। मध्ययुग में जिन सामाजिक सुधारों की आवश्यकता थी उन्हें ही हमने आगे की मंजिल के लिए अपना लिया। यदि मध्ययुग में ही हमारा सार्वजनिक विवेक जग गया होता तो आज ऐतिहासिक शताब्दियों का स्वरूप ही बदल गया होता और आज हम मध्ययुग का निरीक्षण करने के बजाय वर्तमान काल को बिताकर इसी का निरीक्षण करते होते। और तब साहित्य का स्वरूप भी कुछ और ही होता। वर्तमान काल का सम्पूर्ण राजनीतिक और साहित्यिक दृष्टिकोण आज अपने पूर्णविकास पर होता। जब कि आज अभी वह प्रयोगात्मक है, अब तक वह प्रयोग-सिद्ध हो गया होता। जनता को भेड़ बनाकर शासन करनेवाली राजनीति के कारण हमारे बीच से जीवन का एक लम्बा ज़माना यों ही निकल गया। तलवारों की चकाचौंध में ही मनुष्य की आँखें चौंधिया गईं। जीवन सिर्फ एक आँखमिचौनी मात्र रह गया।

मध्ययुग के अनवरत संघर्षों के बाद मनुष्य ने आधुनिक काल (१९वीं सदी) में अपनी आँखें कुछ खोलीं। जिनकी आखें खुलीं उनके सामने विगत राजतन्त्र नहीं रह गये थे। उनके सामने

मध्ययुग का सार्वजनिक जागृत से वंचित रूढ़ि-ग्रस्त सामाजिक जीवन और नवीन राजतंत्र (बृटिश शासन) आया । एक लम्बी अवधि तक मुँदी रहने के बाद जब आँखें खुलती हैं तब दृश्यजगत् एक ही झलक में अपनी सुंदरता-असुंदरता उद्भासित कर जाता है। १९वीं सदी में मध्ययुग की आँखों को यही उद्भास मिला। उन्होंने रोमांस में मद-विह्वल जनता को सार्वजनिक विवेक दिया, सामाजिक सुधार का सूत्रपात किया। साथ ही एक पराजित की भाँति नवीन राजतंत्र को स्वीकार करते हुए सतर्कता भी बनाये रखी। यह उन्हीं का काम था जिनकी आँखों में, शताब्दियों तक मुँदी रहने पर भी, कुछ ज्योति शेष रह गई थी। जिनकी ज्योति समाप्त हो चुकी थी, वे अंधकार में ही पड़े रहना चाहते थे। वे ही १९वीं सदी की प्रारम्भिक जागृति के प्रतिक्रियावादी (कट्टर साम्प्रदायिक) हुए। ज्यों ज्यों जागृति तीव्र होती गई त्यों-त्यों अपेक्षाकृत क्षीण ज्योति के लोग भी उसे बरदाश्त न कर सकने के कारण प्रतिक्रियावादी हो गये। यदि १९वीं सदी के प्रतिक्रियावादी 'कंज़र्वेटिव' थे तो बीसवीं सदी के प्रतिक्रियावादी 'लिबरल' हुए। दोनों में नाम का अंतर है, एक यदि अंधा है तो दूसरा अंधों में काना राजा। वे मध्ययुग के ही राजा-प्रजा के प्रतिरूप हैं।

१९वीं सदी के जो लिबरल असमय ही चल बसे, उनका पूर्ण विकास हमारे सामने नहीं आ पाया, अतएव उन्हें हम कुछ नहीं

कह सकते; किन्तु जो आज वर्तमान जागृति में भी कंज़र्वेटिव रूप में 'लिबरल' होने का दम भरते हैं, उन्हें क्या कहा जाय !

तो १९ वीं सदी में मध्ययुगका ही संशोधन-प्रतिशोधन हो रहा था, आधुनिक शताब्दी के लिए पृष्ठभाग प्रस्तुत किया जा रहा था। राजनीति और साहित्य दोनों में। हमारे साहित्य में यही १९ वीं सदी भारतेन्दु-युग है। भारतेन्दु-युग से द्विवेदी-युग तक एक ही प्रकारका समाज-सुधार और राष्ट्रीय पुकार शब्दान्तरसे प्रकट होती आई। इसके संक्षिप्त परिचय के लिए भारतेन्दु-कृत 'भारत-दुर्दशा' और गुप्त-कृत 'भारत-भारती' देखा जा सकता है। दोनों सहोदर कृतियाँ हैं, अन्तर दोनों के आकार-प्रकार और रूप-रङ्ग में है।

१९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध से २० वीं सदी के अंशत: पूर्वार्द्ध (सन् १९१९) तक राजनीति और साहित्य में यही स्वर सुनाई पड़ता रहा। इसके बाद सन् २० में सत्याग्रह-आंदोलन छिड़ा। गान्धीजी के नेतृत्व में सामाजिक और राजनीतिक जागृति का स्वर स्वतन्त्रता में परिणत हो गया। द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि ने भी गाया—

ओ, विश्वस्त बारडोली,
ओ, भारत की 'थर्मापोली' !

इसी स्वर में मानों भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग की परिणति हो गई। वे विगत दो युग यहीं एक होकर गांधी-युग की ओर बढ़े। इस युग की जाग्रत् चेतना का संक्षिप्त परिचय गुप्त-कृत

'स्वदेश-संगीत' में मिलता है। लिबरलिज़्म में जगा हुआ देश और साहित्य गांधीज़्म में एकोन्मुख हो गया। यदि गांधीजी को भी लिबरल मान लिया जाय तो वे लिबरल-रूप में छिपे हुए १९वीं सदी के कंज़र्वेटिव नहीं, बल्कि लिबरल नाम को सार्थक करनेवाले युग-पुरुष हैं। गान्धीजी को लिबरल मान लेने पर अन्य लिबरलों का अस्तित्व स्वयं समाप्त हो जाता है। अतएव, कांग्रेस (लिबरल) और कांग्रेस के आगे की शक्तियाँ (समाजवादी) ही देश की सार्वजनिक प्रतिनिधि रह जाती हैं।

[२१]

भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में राजनीति नये शासन में नई वस्तु थी, यद्यपि मध्ययुग की भाँति ही उसका बानक भी साम्राज्यशाही था। वह नई राजनीति अभी पनप रही थी। उसका परिणाम हमारे जीवन में स्पष्ट नहीं हुआ था। नये किसलय के सौंदर्य से व्यामोहित कवि की भाँति हम उस पर मुग्ध ही होते रहे। उसकी उदारता के प्रति हम विश्वासी थे। हाँ, मध्ययुग की सामाजिक जड़ता हमारे सामने अधिक स्पष्ट थी, अतएव राजनीति के बजाय सामाजिक रचना की ओर ही हमारा ध्यान अधिक गया। भारतेन्दु-युगसे हमारा साहित्य विशेषतःइसी दिशा में अग्रसर रहा। सामाजिक क्षेत्र ने हमारे साहित्य को विस्तार दिया। पहिले रीतिकाल का काव्य मात्र था, अब गद्य-साहित्य अपने विविध रूप में प्रस्फुटित होने लगा। मध्ययुग के राजनीतिक शिखर से गिर कर

चट खाने पर हम जीवन को जरा निकट से देखने लगे। यह निकटता उत्तरोत्तर बढ़ती गई—भारतेंदु-युग में साहित्य ने समाज की सुध ली थी, द्विवेदी-युग ने परिवार की भी सुध ली। सामाजिक और पारिवारिक साहित्य ही इन दो युगों का विशेष दान है।

इस प्रकार हम अपने साहित्य में जीवन के स्तर-दर-स्तर पर उतरते आये—राजनीति से समाज में, समाज से परिवार में। राजनीति के अहंकार से हम जीवन के साक्षात्कार की ओर बढ़ने लगे।

किंतु एक बात। हमारी प्रवृत्तियों का स्थानांतर तो हो रहा था, किंतु जीवन को देखने का दृष्टिकोण नहीं बदला था। मध्ययुग के जिस राजनीतिक अहंकार के हम अभ्यस्त थे, वही अहंकार समाज और परिवार में भी बना हुआ था। शासित होते-होते हमारा समग्र जीवन अहं का आदी हो गया था, ममत्व का नहीं। सदियों की मानसिक दासता के कारण मस्तिष्क में स्वतंत्र विचारों के लिए स्थान नहीं रह गया था। रूढ़िप्रियता ही हमारी बुद्धिमत्ता थी और जैसे हम राजनीति में शासित होते आये वैसे ही समाज और परिवार को शासित करने में हमारे रुद्ध अहंकार को तृप्ति की साँस मिलती थी। इसी अहंकार के विरुद्ध, रूढ़ियों के विरोध में, सुधारवादी साहित्य का जन्म हुआ। हमारी सामाजिक कदर्थना साहित्य में यथार्थवाद बनी और उससे विवेक ग्रहण करने का संकेत आदर्शवाद बना। अँगरेजों के संपर्क से, देश-काल का दायरा बढ़ जाने के कारण, हममें जो प्रारंभिक

आधुनिकता आई, उसी के द्वारा हमें अपने सामाजिक जीवन को एक भिन्न दृष्टि से भी देखने की दृष्टि मिली। यों कहें कि मध्य-युग में जब कि हम अपने जीवनके एक भागीदार थे तो अब दर्शक भी हो गये। हममें एक आलोचक बुद्धि जगी। स्वयं विदेशी न होते हुए भी, हमें अपने जीवन की ओर देखने के लिए विदेशियों की सी तटस्थता मिली, क्योंकि नये शासन के आगमन से वह हमें स्वयं ही सुलभ हो गई थी। तब तक नये (ब्रिटिश)शासन का स्वरूप आज जितना स्पष्ट नहीं हुआ था, वह तो उत्तरोत्तर स्पष्ट होने की वस्तु थी। किन्तु देशी और विदेशी सामाजिक चित्रपट तो अपनी भिन्नता में एकबारगी ही स्पष्ट था। इस स्पष्टता को देखकर हम अपने में ही गुम-सुम रह जाते, किंतु जब ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्मप्रचार-द्वारा हमारी सामाजिक दुर्बलताओं पर वाक्प्रहार प्रारम्भ किया तब उनके मुकाबिले शक्ति-संचय करने के लिए हमारा ध्यान सामाजिक सुधार की ओर गया। इसी लिए हमारे आधुनिक काल का साहित्य भी सामाजिक रचनाओं से ही प्रारम्भ हुआ।

[२२]

इस नवीन सामाजिक जागृति के अगुआ थे, आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज। इन दिनों को उस समय के सामाजिक सुधार के क्षेत्र में वामपक्षीय और दक्षिणपक्षीय कह सकते हैं। आर्यसमाज (वामपक्ष) न तो पुराने हिन्दू समाज से सहयोग करता था और

न ईसाइयों के नये समाज से। उसने एक बौद्धिक सिपाही का रूप धारण किया। उसने हिन्दुत्व के भीतर एक फौजी संस्कृति को जागरूक किया। स्वभावतः उसमें मनोहरता-मधुरता नहीं थी; हिन्दुत्व था, कवित्व नहीं। युद्धक्षेत्र की गृहस्थी जैसी उसकी संस्कृति थी, रूखी-सूखी। उसका मुख्य उद्देश्य था विदेशी सभ्यता के प्रति विजयी होना, उसे शुद्ध कर अपने में मिला लेना। अतएव, विजातीय अथवा विदेशी दृष्टिकोण से हिन्दू-समाज में जो खामियाँ थीं, उन्हें पुराने समाज के साथ छोड़कर उसने एक ऐसे समाज को मोर्चे पर लगा दिया जो पिछली कमजोरियों के कारण दूसरों से जलील न हो सके। असल में आर्यसमाज विजातियों अथवा विदेशियों को आत्मसात् करने के लिए हिन्दुत्व का खुला दरवाजा बना। पिछले हिन्दू-समाज की कमजोरियों से लाभ उठाकर विजातीय जिन्हें अपनी ओर खींच ले जाते थे, आर्यसमाज उन्हें मय सूद के (विजातियों को भी शुद्ध कर) अपने में खींच लाता था। इस फौजी हिन्दू संस्कृति का साहित्य प्रचारात्मक और खण्डन-मण्डनात्मक है, अपने सामयिक पैम्फलेटों और भजनों में। खेद है कि समाज में स्थान बनाकर भी उसने स्थायी साहित्य में स्थान नहीं बनाया। कारण, एक सामयिक आवेग से आगे वह स्थायी निर्माण की ओर नहीं बढ़ सका।

इधर ब्राह्म समाज ने यौद्धिक मनोवृत्ति न लेकर एक गृहस्थ की सामयिक व्यवहार-कुशलता से काम लिया। उसने आंग्ल सभ्यता

के साथ विग्रह नहीं किया, संधि की। उसने झुककर ही अपना अस्तित्व बनाया। किंतु इस झुकने में उसकी मुद्रा बदल गई, उसमें अँगरेजी अभिव्यक्ति की विचित्रता आ गई। एक शब्द में, उसका रूपांतर हो गया। हाँ, उसकी आत्मा (मूलसंस्कृति) उसमें बनी रही, यद्यपि उसका माध्यम (शरीर) बदल गया। बृटिश इंडिया की भाँति ही ब्रह्मसमाज भी हिंदू धर्म का अँगरेजी भारतीयकरण था। मुस्लिम शासन में जिस प्रकार भारतीयों को एक बना-बनाया समाज मिला और उस समाज के जीवन की अभिव्यक्तियाँ (कला) मिलीं, उसी प्रकार बृटिश शासन में ब्राह्म समाज को आंग्ल समाज और उसके जीवन की अभिव्यक्तियाँ मिलीं। आर्यसमाज यदि हिंदू-समाज का आधुनिक सैनिक था तो ब्राह्मसमाज आधुनिक नागरिक। आर्यसमाज के सामने कोई पूर्वनिर्मित जीवन और उसकी अभिव्यक्ति नहीं थी,—पिछले समाज को वह छोड़ चुका था, नये समाज के साथ उसका संघर्ष चल रहा था, अतएव उसे वह मॉडल सुलभ ही नहीं हुआ, जिसके आधार पर वह नये जीवन और नये साहित्य का निर्माण करता। आर्यसमाज जब कि एक अमूर्त्त धार्मिक आधुनिकता की ओर बढ़ रहा था, ब्राह्मसमाज ने एक मूर्त्त नागरिक आधुनिकता को अंगीकार कर लिया था। फलत: उसे आत्मसृजन का अवसर मिला। आर्यसमाज एक सामाजिक सुधारक था, ब्राह्मसमाज एक संस्कृतिक उद्भावक। धार्मिक उद्भावना ने देश-काल के अनु

सार मध्ययुग में भी साहित्य और कला में अपना एक स्थान बनाया था, इस युग में भी बनाया। उसने समय-समय पर साहित्य में एक आध्यात्मिक अनुभूति को जन्म दिया है जिसका दुरुपयोग शृङ्गारिक कवियों ने किया था। भक्ति-काव्य के रहस्यवाद का दुरुपयोग जिस प्रकार शृङ्गारिक कवियों ने किया उसी प्रकार आज के छायावाद का दुरुपयोग उर्दू भावुकता से प्रेरित अपरिपक्व नवयुवक कवियों ने। छायावादी कला के विन्यास में ये कवि मध्ययुग की ही कोई विलासी प्रजा हैं।

ब्राह्मसमाज ने मध्ययुग के रहस्यवाद को आंग्ल समाज के सहयोग से एक रोमैन्टिक रूप दे दिया। साथ ही मुस्लिमकाल में जैसे एक मुग़ल कला आई थी, वैसे ही ब्राह्म समाज के द्वारा हमारे जीवन और साहित्य में एक अँगरेजी कला भी आई। इस कला में भारतीयता वैसी ही है जैसी ठाकुर-शैली की चित्रकला में।

बंगाल में ठाकुर-परिवार के संरक्षण में यह कला बहुत पहिले ही आ गई थी किन्तु हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी-युग के बाद आई। उसे हम 'छायावाद' कहते हैं। बंगाल में बहुत पहिले आ जाने का कारण यह कि ब्राह्मसमाज को नवीन सामाजिक चेतना के लिए बना-बनाया अँगरेजी मॉडल मिल जाने के कारण उसे तुरत अपनी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय देने का अवसर मिला। किन्तु इधर का समाज संघर्षों में ही चल रहा था, नवीन सामाजिक चेतना का मूर्त्त रूप न मिलने के कारण वह परम्परा को ही पकड़े हुए था।

इस परम्परागत (सनातनधर्मी) समाज के साथ बंगाल में ब्राह्म-समाज का भी संघर्ष जारी था, जैसे यहाँ आर्यसमाज का; किन्तु दूसरी तरफ ब्राह्मसमाज निश्चित था विदेशी सभ्यता के साथ सन्धि करके अपना निर्माण करने में। किन्तु आर्यसमाज दोनों तरफ संघर्ष ही संघर्ष कर रहा था, निर्माण कुछ नहीं दे रहा था। इस संघर्ष से अलग, मध्यकाल का परम्परागत हिन्दूसमाज अपने पुराने स्वरूप में ही चल रहा था, उसे आर्यसमाज और विदेशी सभ्यता दोनों ही नहीं रूच रहे थे। एक उसे अपनी सैनिक शुष्कता के कारण अस्वाभाविक लग रहा था तो दूसरा विदेशियों जैसा अपरिचित होने के कारण सन्देह-जनक।

तो आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज अपने-अपने क्षेत्र में बढ़ रहे थे। इनकी हलचलों के बीच परम्परागत हिन्दू-समाज का जीवन और साहित्य भी चला आ रहा था। १९ वीं सदी की कशमकश में इस परम्परागत समाज को भी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए रूढ़ियों में कुछ सुधार करने पड़े। यों कहें, रूढ़िग्रस्त समाज अपने सामयिक उपचार में लगा, फलत:उसकी रूढ़िग्रस्तता में एक स्वस्थ रूढ़िप्रियता का संस्कार उत्पन्न हुआ। आखिर था तो वह पुराना समाज ही, अतएव उसके अस्तित्व की पुरातनता स्वयं ही एक रूढ़ि बनकर उसकी 'जीवन-मूरि' बनी हुई थी।

आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज के प्रभाव से पृथक्, किंतु १९ वीं सदी की कशमकश से जगकर सुधार की ओर बढ़नेवाले उस

परम्परागत समाज के आरम्भिक साहित्यकार हिन्दी में भारतेन्दु और बङ्गाल में बङ्किम हुए। भारतेन्दु ने हिंदुओं की सामाजिक निर्बलता देखी, बङ्किम ने राजनीतिक दासता। भारतेन्दु ने समाज-सुधार की ओर ध्यान दिया, बङ्किम ने हिंदुओं के शक्ति-सङ्गठन की ओर। पुरातन हिंदू संस्कृति की रक्षा के लिए दोनों ने उद्बोधन का स्वर ऊँचा किया।

सुधार और संगठन की ओर लगा हुआ यही समाज द्विवेदी-युग तक चला आया। किंतु इस समाज में सुधार का ढङ्ग महाजनी था। वह अपने पुराने बजट (जीवन) के अनावश्यक मदों (प्रथाओं) को तोड़कर अपनी साख की रक्षा कर रहा था। उसके सुधार के मुख्य अङ्ग थे—दहेज, विदेश-गमन, छूतछात इत्यादि इसी ढंङ्ग के छोटे-मोटे सामाजिक प्रश्न। संस्कृति के नाम पर पाठशाला, धर्मशाला, अखाड़ा, अन्नसत्र और देवालय उसके धर्मरक्षक थे। यह स्पष्ट है कि इस सुधार और संस्कृति का सूत्र-धार सम्पन्नवर्ग है। निम्नवर्ग 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' के अनुसार उसका अनुचर रहा—उसकी इनायतों का मुहताज रहा। इस सम्पन्न वर्ग के द्वारा यदि निम्नवर्ग का कुछ कल्याण हो जाता है तो इसमें उसका अपना भी लाभ बना रहता है। यथा, उसके अन्नसत्र से दो मुट्ठी अन्न पाकर एक गरीब अपनी उदर-ज्वाला को जरा पुचकार लेता है तो दूसरी ओर अन्नदाता को धर्म का यश (पुण्य) भी मिलता है। या, दहेज और विदेश-

गमन-सम्बन्धी सुधारों से उसे अपने लिए भी सुविधाएँ मिल जाती हैं—बेचारे ग़रीब के लिए क्या दहेज, क्या विदेश-गमन ! हम देखते हैं कि इन सुधारों से उनके जीवन को कोई राहत नहीं मिलती जो वस्तुतः रूढ़िग्रस्त समाज के रवैयों से आक्रांत हैं । यह समाज-सुधार तो अहंसेवी वर्ग की ही व्यापारिक सहृदयता है । इसमें मानव-सहानुभूति का स्पर्श नहीं है ।

बङ्किम ने हिंदूशक्ति के संगठन का संकेत तो दिया किंतु समाज-संस्कार के लिए उन्होंने भी कोई सर्वजनहिताय अनुष्ठान नहीं बताया । निदान बंकिम के बाद बङ्गाल में ब्राह्मसमाज का प्रभाव बढ़ा, इधर हिंदी में उक्त परम्परागत समाज का महाजनी साहित्य ही चलता रहा, भारतेन्दु के बाद उनके युग में कोई नवीन प्रभावशाली सामाजिक रचनाकार भी नहीं आया । भारतेन्दु के बाद देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी आये भी तो मध्ययुग के काव्यात्मक रोमांस का ही औपन्यासिक बानक लेकर । इससे यह स्पष्ट है कि भारतेंदु-युग में जो नवीन सामाजिक चेतना जगी, वह ऊपर ही थी, वह इतनी गहराई में नहीं थी कि साहित्य की गति मोड़ देती । हाँ, साहित्य के विविध स्फुट प्रसङ्गों की रचना के लिए भारतेंदु-युग से एक प्रेरणा अवश्य मिल गई थी, जिसके अनेक लेखक और कवि हमारे वर्तमान साहित्य के निर्माताओं में हैं—सर्वश्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', रत्नाकर, 'हरिऔध', श्रीधर पाठक, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंदगुप्त, बालकृष्णभट्ट इत्यादि ।

[२३]

किन्तु द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग की वह सामाजिक चेतना कुछ गहराई में पहुँचने लगी थी। सार्वजनिक आन्दोलन जनता का मर्मस्पर्श करने लगे थे। इस युग के दो प्रमुख साहित्यिक सामने आये—प्रेमचन्द और मैथिलीशरण। प्रेमचन्द आर्यसमाजी चेतना की सतह पर आये, मैथिलीशरण सुधारोन्मुख परम्परागत समाज की सतह पर। प्रेमचन्द भारतीय समाज को लेकर खड़े हुए, मैथिलीशरण हिन्दू संस्कृति को। किन्तु जब ये महानुभाव हमारे साहित्य में आये तब १९ वीं सदी की भस्माच्छादित राजनीतिक जागृति भी चमचमाने लगी थी। कांग्रेस की नरम-गरम पार्टियाँ आपस में अपनी अपनी शक्ति की आजमाइश कर रही थीं। आगे चलकर इस राजनीतिक जागृति को अन्त:शुद्ध होकर देश के लिए एक संयमित स्फूर्त्ति बन जाना था। वह समय जरा आगे था, तब तक साहित्य अपनी सामाजिक जागृति की गति से ही चल रहा था। इस समय साहित्यिक दृष्टि से बङ्गाल सिरमौर था। कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर (ब्राह्मसमाज) अपनी प्रसिद्ध के शिखर पर पहुँच चुके थे। ऐसे समय में देश की भावी राजनीति का नेता तो दक्षिण अफ्रीका में था और सुधारोन्मुख सनातन समाज का महान् कलाकार बङ्गाल में उदित हो रहा था। एक का नाम था मोहनदास करमचन्द गांधी, दूसरे का नाम शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय। रवींद्र के बाद भारतीय साहित्य या भारत की धर्मप्राण आत्मा का प्रतिनिधित्व शरच्चन्द्र ने

ही किया। रवीन्द्र की कीर्त्ति-संध्या (वार्द्धक्य) में शरच्चन्द्र का उदय हुआ और जब कि रवीन्द्रनाथ आज के प्रभात में भी उदित हैं, शरच्चन्द्र एक साहित्यिक ज्योत्स्ना छिटका कर चले गये हैं। जिस अँगरेजी 'शेड' में रवीन्द्रनाथ अपना प्रकाश लेकर आये मानों उसी का भविष्य देखने के लिए वे आज भी हमारे बीच में हैं, यदि उसका भविष्य अंधकारमय हो तो शरद उस अन्धकार के लिए एक सहज उज्ज्वल प्रकाश दे गये हैं—भारत की गृहदेवियों के दृगों का।

रवीन्द्र और शरद, दोनों मध्ययुग के अभिजातवर्ग के कलाकार हैं। रवीन्द्र-साहित्य से विदेशियों को हमें समझने का माध्यम मिलेगा; शरद-साहित्य से अपनी आस्थाओं के लिए सुदृढ़ आधार। रवीन्द्र की कला उस अभिजातवर्ग का राज-संस्करण है, शरद की कला सुलभ संस्करण। रवीन्द्र का समाज अपेक्षाकृत सम्पन्न श्रेणी के व्यक्तियों का समाज है, जिसके हर्ष-विषाद, आशा-आकांक्षा, विजय-पराजय, सब राजसी हैं। वहाँ पिछले परम्परागत समाज के लोग ही अँगरेजी मांडल हाउसों में बस गये हैं। पिछले समाज का अहङ्कार यदि कोठीवाल है तो नये समाज का अहङ्कार जेंटिलमैन। शरद की कला में इन्हें भी चित्रित किया गया है। किन्तु उनकी कला के प्राण वे हैं जो इन पुराने और नये अहङ्कारियों के सामाजिक शोषण से निर्बल-निःसहाय हैं और साधन-रहित शिशु के समान अपने घरौंदों

(मनःस्वप्नों) को कोई सुदृढ़ नींव नहीं दे पाते। उन्हीं मनःस्वप्नों का चित्रण और राजसी समाज का अहङ्कार-विद्रवण, शरद की कला का मर्मभेदी लक्ष्य है। शरद की कला समाज के नगण्य प्राणियों की अग्रगण्य कला है।

शरद ने राजसी समाज के अहङ्कार-विद्रवण के लिए उसी के भीतर कुछ विद्रोह खड़ा कर दिया। उस समाज की तरुण पीढ़ी में मानव-संवेदना उत्पन्न कर शरद ने अहङ्कार पर प्रहार कराया है। तरुण विद्रोहियों को पथ-भ्रष्ट कहकर समाज उन्हें संस्कृति की विरासत से वञ्चित न कर दे, इसलिए शरद ने चरित्र और नीति की नई कसौटी दी है। यहीं पर उन्होंने पुरातन समाज के भीतर आधुनिक चरित्र-चित्रण की कला भी उपस्थित की है। यहीं पर वे सनातन समाज के क्रान्तिकारी कलाकार हैं। सनातन समाज के भीतर जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर है उसे ही शरद ने समाज के वेदना-विवर्ण मुखमण्डल पर दिखलाया है और उसके उद्धार के लिए ही तरुण सैनिकों को अग्रसर किया है। विद्रोही होकर शरद अपनी ठेठ माँ-बहिनों को पुराने समाज में ही छोड़कर कोई अलग समाज नहीं बनाना चाहते थे, जैसे पुराने समाज के भीतर से एक अलग अंगरेजी समाज बन गया। आधुनिकता के नाम पर उस अंगरेजी समाज के बुद्धि-विलास को शरद नापसन्द करते थे। वे तो अपनी माँ-बहिनों के निकट रहकर ही मानवता की नवीन समवेदना के स्पर्श से उन्हें भी आधुनिक

पीढ़ी का परिचय देना चाहते थे। किंतु उनकी आधुनिक पीढ़ी मध्ययुग के आर्थिक प्रभुत्व की उत्तराधिकारिणी होकर ही सामाजिक प्रभुत्व के साथ विद्रोह करने में समर्थ होती है।

'चरित्र हीन' में जब गृहत्यागिनी किरणमयी से सतीश घर लौट चलने को कहता है तब किरणमयी पसोपेश में पड़कर कहती है—"किंतु समाज..."

सतीश बीच ही में बोल उठा—"नहीं, नहीं, जिसके पास रुपया है, जिसके शरीर में बल है, उसके विरुद्ध समाज कुछ नहीं कर सकता। ये दोनों चीजें मुझे अच्छी तरह प्राप्त हैं, भाभी!"

इस प्रकार शरद की तरुण पीढ़ी वैभव के अहङ्कार का वैभव से ही पराभव करना चाहती है। यह चिन्तनीय है कि दलित, पीड़ित और शोषित वर्ग को शक्तिस्-वावलम्बन शरद नहीं दे सके। कदाचित् इसके लिए जिस भविष्य की आवश्यकता थी, तब तक उसका आभास देश को नहीं मिला था।

[२४]

ऊपर कहा जा चुका है कि हमारे साहित्य में जब प्रेमचन्द समाज को और मैथिलीशरण संस्कृति को लेकर खड़े हुए, तब तक १९ वीं सदी की भस्माच्छादित राजनीतिक जागृति भी देश में चमचमाने लगी थी। वह जब तक ज्वालामयी नहीं हो उठी तब तक साहित्य, युद्धक्षेत्र से दूर गार्हस्थिक हलचलों की भाँति सामाजिक और सांस्कृतिक उत्कर्षों का ही उद्घोष करता रहा। साहित्य की

उस प्रगतिमें एकमात्र रवीन्द्रनाथ ही बुजुर्ग थे। उनकी आधुनिकता की ऊँचाई तक पहुँच पाना ही तब तक हमारे साहित्य के लिए दु:साध्य था। यह सन् १९१४-१७ के महायुद्ध के पूर्व का प्रसङ्ग है। उस महायुद्ध ने संसार का ध्यान राजनीति की ओर भी खींच दिया। किन्तु उस समय न तो हमारा राष्ट्रीय सङ्गठन हुआ था और न कोई स्पष्ट राजनीतिक लक्ष्य सामने आ पाया था। हद से हद स्वदेशी के नाम पर आतङ्कवादी दल का जन्म हो चुका था, जो केवल विभीषक था, विवेकवान् नहीं। रवीन्द्र के 'घरे-बाहिरे' और शरद के 'पथेर दावी' में उनका भी चित्रण मिलता है। रवीन्द्र उस दल को अपनी सहानुभूति नहीं दे सके, उनका चित्रण उन्होंने उसी ढङ्ग से किया है जिस ढङ्ग से शरद ने ब्राह्मसमाज का। आतङ्कवादी दल से शरद की सहानुभूति थी। अन्य किसी युग-प्रवर्त्तक राष्ट्रीय कार्यक्रम के अभाव में शरद उस दल के साहस के श्रद्धालु थे। ऐश्वर्य के सम्मुख दीनों-दलितों का जो दु:ख दैन्य निरवलम्ब है, उसे यह आतङ्कवादीदल कोई शक्ति तो नहीं दे रहा था, हाँ, देश के शासकों को उद्विग्न अवश्य कर रहा था। दीन-दलितों के लिए सहानुभूति रखते हुए भी यह दल सीधे पूँजीवाद से लोहा, लेने का कार्यक्रम नहीं पा सका था। शासकों के बदल जाने से ही तो साधारण जनता की स्थिति बदल नहीं सकती थी। इस दल में जो परदु:खकातरता थी, उसी के कारण शरद आतङ्कवादियों के प्रति स्नेहोन्मुख थे। किन्तु 'पथेर-

दावी' में शरद्‌बाबू ने उस दल को एक आदर्श का संकेत भी दिया है। निरुद्देश्य क्रान्तिकारी विभीषिका को वे भी व्यर्थ समझते थे। 'पथेर दावी' में उन्होंने क्रान्तिकारी पार्टी को देश के बुनियादी राजनैतिक प्रश्नों को समझने का आमंत्रण दिया है। 'पथेर दावी' के सव्यसाची के ये कथन मानों आतङ्कवादियों को सुझाव देते हैं—

"हमारे राजा इस देश में नहीं रहते, विलायत में रहते हैं। लोग कहते हैं कि वे बहुत ही अच्छे आदमी हैं। न मैंने कभी उन्हें आँखों से देखा है और न उन्होंने ही मेरा रंचमात्र नुक़सान किया है। तब उनसे मेरा वैरभाव हो ही कैसे सकता है, अपूर्व बाबू?

राजकर्मचारी राजा के नौकर हैं, तनख्वाह पाते हैं, हुक्म की तामील करते हैं। एक जाता है, दूसरा आता है। यह सहज और मोटी बात है। परन्तु आदमी जब इस सहज को जटिल और मोटी को निरर्थक बारीक करके देखना चाहता है तब उससे बहुत बड़ी ग़लती होती है। इसी लिए वह उन पर आघात करने को ही राजशक्ति की जड़ में आघात करना समझकर आत्मवञ्चना करता है। इतनी बड़ी घातक व्यर्थता और नहीं हो सकती।"

इन कथनों में शरद अनार्किस्ट नहीं हैं, उनका लक्ष्य इसके भी आगे है। वे शासन-तंत्र के नहीं बल्कि शासन-प्रणाली के विरोधी हैं। यहाँ तक परोक्ष रूप से वे गान्धीवाद के साथ हैं। किन्तु क्रान्तिकारी पार्टी के प्रति सहानुभूति-पूर्ण होकर वे तरुणों की जिस

शक्ति को अपनी आत्मीयता देते हैं, उसका कार्य्यक्षेत्र कुछ और विस्तृत देखना चाहते हैं। वे उसे एक बुनियादी क्रान्ति की ओर अग्रसर देखना चाहते हैं। एक ब्राह्मणोचित लक्ष्य के लिये वे क्रान्तिकारी पार्टी को क्षत्रियोचित शौर्य के रूप में देखना चाहते हैं, मानो गान्धीवाद को सैनिक संरक्षण देना चाहते हों। शरद का यही क्रान्तिकारी रूप आज के गान्धीवाद और समाजवादी के द्वन्द्व में एक आदर्शवादी समाजवाद के रूप में प्रकट हो सकता है, यह वैष्णव मनोवृत्तियों के भीतर से शाक्त प्रवृत्तियों का अपनाव है—मानो कोमलता के लिए कठोरता का कवच।

असल में कोरे ब्राह्मसमाजी तथा कोरे क्रान्तिकारी रवीन्द्र और शरद को अभीष्ट नहीं। फलतः आदर्श ब्राह्मसमाज को रवीन्द्र ने और आदर्श क्रान्तिकारी दल को शरद ने उपस्थित किया। रवीन्द्र ने क्रान्तिकारियों की मिथ्या विभीषिका दिखला दी, शरद ने ब्राह्मसमाज की मिथ्या लिप्सा। शरद ने जिस मिथ्या ब्राह्म-समाज को दिखलाया उसका समुचित आदर्श रवीन्द्रके 'गौरमोहन' में है; रवीन्द्र ने 'घरे बाहिरे' में जिस मिथ्या क्रान्तिकारी विभीषिका को दिखलाया उसका समुचित आदर्श शरद के 'पथेर दाबी' में है। साहित्य में सामाजिक क्रान्ति के संशोधक रवीन्द्र हैं, राजनीतिक क्रान्ति के संशोधक शरद।

किन्तु हमारा हिन्दी-साहित्य, राजनीति से अलग, मुख्यतः अपनी पिछली समाजिक धाराओं के आवर्त्तन-विवर्त्तनमें ही अपनी

गतिविधि बनाता हुआ सन् १४ के महायुद्ध के बाद सन् १९१९ तक चला आया। तब तक हमारे साहित्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव पड़ने लगा था। द्विवेदीयुग के बाद (छायावाद) के साहित्य के उत्कर्ष में यह प्रभाव मूलाधार बना।

काव्य के अतिरिक्त जब कथा-साहित्य की सहज स्वाभाविकता की ओर भी लोगों का ध्यान गया तब रवीन्द्र के अतिरिक्त शरद की भी लोकप्रियता बढ़ी। बल्कि कथा-साहित्य में शरद की लोक-प्रियता रवीन्द्र से भी अधिक है। किन्तु शरद से परिचित होते न होते साहित्य का ध्यान उस महापुरुष की ओर चला गया जो शरद के उदय-कालमें दक्षिण अफ्रीका में था और विकास-काल में भारत में आ गया—महात्मा गांधी। शरद की सीमा उसी में विलीन हो गई, यद्यपि शरद 'शेष प्रश्न' भी छोड़ गये हैं। शेष प्रश्न—आदर्श के सम्मुख यथार्थ का। आदर्श के उपासक शरद यथार्थ की उपेक्षा नहीं कर सके। उनके आदर्श की पूर्णता गांधी-वाद में है, उनके यथार्थ का समाधान समाजवाद में। तत्कालीन आतङ्कवादी दल की ओर शरद का रुझान समाजवाद की ओर ही एक अज्ञात आकर्षण था। पीड़ितों को जो शक्ति शरद नहीं दे सके, वह समाजवाद में मूर्त्त होने जा रही है। 'पथेर दाबी' के शरद इसी ओर अपना एक और स्पष्ट लक्ष्य पा जाते। वे संस्कृति और क्रांति के कलाकार थे। संस्कृति में वे पूर्ण स्पष्ट थे, क्रांति में आरम्भतः अपूर्ण, अस्पष्ट। शरद जिस संस्कृति के सनातन

प्रजा थे, उसी संस्कृति के नवीन सार्वभौम महर्षि ने सारे राष्ट्र को एक तपोवन बना दिया। जीवन की स्थूल आवश्यकताओं को समिधि बनाकर उसने एक आध्यात्मिक महायज्ञ की रचना कर दी। कट्टर अपरिवर्तनवादियों को छोड़कर जो लोग साहित्य, समाज और राजनीति में विविध रूपेण कुछ भी गतिशील थे, वे सभी इस आध्यात्मिक महायज्ञ (गांधीवाद) में मिलकर एकाकार हो गये। हाँ, आतङ्कवादी दावाग्नि की तरह इससे दूर ही रहे। आगे चलकर उन्होंने भी अपनी बिखरी शक्तियों को संगठित करने का प्रयत्न किया रूसी राज्यक्रान्ति के आदर्शों में; किन्तु व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं की प्रतिस्पर्द्धा में अथवा सार्वजनिक साधना के अभाव में वे आज भी एककण्ठ, एकस्वर नहीं हैं। रूसी क्रांतिकारियोंकी तरह उनमें भी अनेक दलबन्दियाँ हैं और एक दूसरे को गिराकर नेतृत्व पा जाने की कोशिश है। जिस स्थूल भौतिक आधार पर वे खड़े होना चाहते हैं, उसे देखते यह स्वाभाविक ही है। किन्तु आज वे आतंकवादी रूप में नहीं हैं। महात्मा के अहिंसात्मक कार्यक्रम के कारण उनका आतंक ठंढा पड़ गया है।

तो, द्विवेदी-युग तक हम परिवार में आये थे। परिवार से उतरकर हमें फिर व्यक्तिगत अहंकार की ओर लौटने की आवश्यकता नहीं पड़ी। परिवार से हम अन्तरात्मा (जीवन के अन्तस्तम स्तर) की ओर आये। यही है गान्धी-युग का साहित्य। यह अहं का नहीं, सोऽहं (सर्वोदय) का साहित्य है।

[२४]

गांधीवाद के द्वारा सुधारोन्मुख समाज तथा परिवार के वातावरण में पुराकाल की भाँति एक नवीन व्यक्तित्व और एक नवीन समाज का आरम्भ हुआ—सोऽहं (आध्यात्मिक व्यष्टिवाद), एकोऽहं बहु स्याम् (आध्यात्मिक समष्टिवाद) ।

यद्यपि मध्यकाल की भीषण साम्राज्यशाही उस काल के इतिहास के साथ ही समाप्त हो गई थी, किन्तु वह घर में समाप्त होकर बाहर से ब्रिटिश शासन के रूप में फिर आ गई। गांधीवाद इसी के प्रतिकार के लिए नवीन समाज ले आया। किन्तु जैसे मध्यकाल में सन्तों के रहते भी लोहे के प्रतिकार के लिए लोहा ही बजा, वैसे ही, गांधीवाद (आध्यात्मिक समष्टिवाद) के रहते हुए भी, पार्थिव साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक पार्थिव समष्टिवाद (समाजवाद) सजग हो रहा है। आज हमारे साहित्य में ये ही दोनों 'वाद' चल रहे हैं—गान्धीवाद और समाजवाद।

समाजवाद और साम्राज्यवाद, ये दोनों लक्ष्य-विभिन्नता रखते हुए भी अहङ्कारों के ही द्वन्द्व हैं। मध्ययुग में भी अहङ्कार से अहङ्कार भिड़े किन्तु आज वे अपने आधुनिक संस्करणों में भिड़ रहे हैं। इस तरह तो अहङ्कार का नव-नव रूपान्तर ही होता जायगा, उसका निर्मूलन नहीं। मध्ययुग के सन्तों की बात हम

उस समय नहीं सुन सके, अतएव उनकी वाणी पुन:गांधी के स्वरूप में अमर होकर आई। और जब तक हम उसे सुन नहीं लेते तब तक वह पुनर्जन्म धारण कर बराबर आती रहेगी। यह वाणी अनादि है, इसलिए यह चिरन्तन रहेगी;जब कि अहंकारों के द्वन्द्व क्षणिक आदेश होते जायँगे। उस चिरपुरातन वाणी के श्रावक ग्रामीण होंगे। पुराने बीज को नये अंकुर के लिए ग्रामीण ही सुरक्षित रखते हैं। मजदूरों की जागृति उन्हीं की आधुनिकता के लिए है। आधुनिकता नगरों में पनपती है, प्राचीनता देहातों में। ग्रामीणों के लिए अब तक नागरिक आधुनिकता के माध्यम थे जमींदार और महाजन। ये दोनों ही शोषक थे। इस रूप में ग्रामीण आधुनिकता के प्रति उदासीन थे। किन्तु समय की गति से पिछड़ जाने के कारण आज उनकी पुरातनता खतरे में पड़ गई है। ऐसे समय में उन्हीं की श्रेणी के जो श्रमिक नगरों में उनके प्रतिनिधि हैं, उनके द्वारा वे आधुनिकता के प्रति भी सजग हो रहे हैं। श्रमिकवर्ग की विश्वव्याप्त जागृति में जगे मजदूर आधुनिक प्रगति को अपने देश के बुनियादी समाज (देहात) के अनुरूप ग्रहण करेंगे, क्योंकि वे उसी सतह के नागरिक संस्करण हैं। उनके द्वारा ग्रामीणों का मूलजीवन (पुरातन सांस्कृतिक जीवन) आधु-निकता का निजी विकास ग्रहण करेगा। शिक्षितवर्ग में भी वे ही उसके प्रतिनिधि होंगे जो उसे उसी की सतह पर जाकर उठायेंगे। महात्मा गांधी ने यही तो किया है। निरी नागरिक आधुनिकता

के प्रतिनिधि उनसे अभिन्न न हो सकेंगे, वे उनसे वैसे ही भिन्न रहेंगे जैसे आज नगर और देहात। इसी कारण आज की आधुनिकता जटिल है, जब कि आवश्यकता है एक सरल आधुनिकता की। किसानों और मजदूरों का सामीप्य इसी की सृष्टि करेगा। जीवन का विकास स्वच्छन्द होकर विलास न बन जाय, इसी मर्य्यादा के लिए पुरातन वाणी (आध्यात्मिक सूचना) हमारे भीतर एक आत्मनिरीक्षण उत्पन्न करती है।

हमारे जीवन में गान्धीवाद के रूप में एक आत्मनिरीक्षण सजग है। दूसरी ओर समाज, साहित्य और राजनीति के भीतर एक नवीन आधुनिकता (प्रगति) आ रही है। यह आधुनिकता क्रांतिमुखी है। पुरातन में यदि कुछ भी संजीवनी शेष होगी तो वह इस आधुनिकताको आत्मसात् कर अपना कायाकल्प करेगी।

जागृति, सुधार और क्रान्ति, इतिहास के ये तीन क़दम हैं। इस समय हम तीसरे क़दम की ओर हैं। प्रारम्भिक आधुनिक काल की जागृति सामाजिक थी, सुधार भी उसी दृष्टि से हुए। गांधीजी ने राजनीतिक परिवर्त्तन भी सामाजिक आधार पर किये, किन्तु प्रगतिशील आधुनिकता राजनीतिक परिवर्त्तन से ही सामाजिक परिवर्त्तन भी करने को उद्यत है। फलतः पुरातन समाज तथा साहित्य तो गांधीवाद की ओर विकासोन्मुख है और नवीन समाज तथा साहित्य क्रान्तिकी ओर अभिमुख है। आज जो प्रश्न सामाज और राजनीति के रूप में प्रच्छन्न है, कल वही प्रश्न संस्कृति और

विज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष होगा, जब कि राजनीतिक परिवर्त्तनों के बाद हम सामाजिक जीवन के निर्म्माण की ओर दत्तचित्त होंगे। उस समय हमारे सामने साम्प्रदायिक प्रश्न भी नहीं रह जायगा, प्रश्न मानवता के विकास (मनुष्य के आत्मविकास) का होगा। यह प्रश्न व्यक्तिगत साधना का सार्वजनिक रूप ग्रहण करेगा, वहाँ पर गांधीवाद विचारणीय होगा। तब हम पंथों और मतों, मन्दिरों और मठों के बावजूद मानव-संस्कृति को ऐसा दर्शन प्रदान करेंगे जो विज्ञान को भी मान्य होगा। तब आज के गांधी और आइन्सटीन भविष्य के तरुण कंठ बनेंगे।

[२५]

अस्तु, हम उस सुदूर भविष्य से फिर वर्त्तमान के निकट आवें—

भारतेन्दु-युग से गांधी-रवीन्द्रयुग तक साहित्य, पिछले सामाजिक और राजनीतिक जीवन के नवजागरण और सुधार का साहित्य है। इसे हम नव्य-पुरातन साहित्य कह सकते हैं। इस साहित्य में रूढ़ जीवन का नवीन स्वास्थ्य है। इसमें उतनी ही आधुनिकता है जितनी मध्ययुग की अपेक्षा सुधारोन्मुख जीवन में। यहाँ जीवन यदि सुधार की सतह पर मध्ययुग से भिन्न होकर अभिन्न है तो साहित्य, कला की सतह पर। फलतः इस नवीन समाज और साहित्य में हम आज भी मध्ययुग की मूल आत्मा पाते हैं। जिस शाश्वत चेतना ने, विकास-क्रम से मध्ययुग के समाज और साहित्य में एक मूर्त रूप पाया था, उसी ने गांधी-रवीन्द्र युग

में अपने अनुरूप आधुनिक विकास ग्रहण किया है। समय की अनन्त यात्रा में इतिहासों के परिच्छेद (सामयिक अभिव्यक्ति) बदलते गये हैं, किन्तु मूल व्यक्ति (अनादि चेतन) विलुप्त नहीं हुआ है। साहित्य में वह आज भी गांधी, रवीन्द्र और शरद द्वारा जीवित है। हाँ, इनकी आधुनिकता में बाह्य विभिन्नता अवश्य है—रवीन्द्र की आधुनिकता नागरिक है, गांधी की आधुनिकता ग्रामीण, और शरद की कला में दोनों की सन्धि। समाजवाद से पूर्व इन्हीं महारथियों का अखिल भारतीय साहित्य पर प्रभाव पड़ा।

रवीन्द्र ने हमारे साहित्य को भावात्मक छायावाद दिया, शरद ने पारिवारिक जीवन का सांस्कृतिक सौंदर्य दिया, महात्मा ने व्यावहारिक अध्यात्म (सकर्मक-रहस्यवाद) दिया। अब समाजवाद राजनीतिक यथार्थ दे रहा है। रवीन्द्र ने कला-विकास की प्रेरणा दी, महात्मा ने जीवन के विकास की दीक्षा दी। समाजवाद कला और जीवन को नवीन आधार दे रहा है। रवीन्द्र और गांधी जब कि मध्ययुग से सम्बद्ध हैं, समाजवाद मध्ययुग से विच्छिन्न होकर सर्वथा नवीन युग का आरम्भ कर रहा है। वह नई मिट्टी पर अपना संसार खड़ा कर रहा है जो कि उसे क्रान्ति की लहर से 'डेल्टा' के रूप में मिल रही है।

[२६]

भारतेन्दु और द्विवेदी-युग अपने समय का वस्तुजगत् लेकर आरम्भ हुआ था। वह प्रारम्भिक आधुनिक काल है। वह

वस्तुजगत् इतना अपरिपक्व था कि तब तक हमारे साहित्य में नवीन भावजगत् नहीं आ सका था, वस्तुजगत् को ही समझने-सँवारने में हमारा साहित्य लगा हुआ था। उसे हम साहित्य में एक स्थापत्य-शिल्प का प्रयास कह सकते हैं। मनुष्य जड़ नहीं, चेतन है; इसी कारण वह अपने अविकास में भी ललित कला (कविता) की ओर उन्मुख रहा है। भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में प्रारम्भिक आधुनिक काल तो आ गया, किन्तु आधुनिक भावजगत् नहीं आ सका था। फलत: उसने अपनी ललितकला की भूख-प्यास मध्यकाल के भावजगत् से तृप्त की—भारतेन्दु-युग ने रीति-काव्य की रसिकता ली, द्विवेदी-युग ने भक्ति-काव्य की भावुकता। ज्यों ज्यों हम अपने वस्तुजगत् में विकसित होते गये त्यों त्यों हम आधुनिकता की ओर उत्तरोत्तर बढ़ते गये। हमारी आधुनिकता का प्रारम्भ अँगरेजी शासन के सम्पर्क से हुआ था फलत: हमारे वस्तुजगत् के चिन्तन और भावजगत् के उत्कर्ष पर अँगरेजी दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ता गया। वस्तुजगत् में हम जिस शासन के शिशु थे, साहित्य-जगत् में भी हम उसी के शिशु हुए। अन्तर सिर्फ यह रहा कि हमारे जीवन और साहित्य में हमारी भौगोलिक आकृति बनी रही।

किन्तु अँगरेजी शासन और अँगरेजी साहित्य का विकास मध्ययुग के जीवन और साहित्य का ही विकास था। उस विकास तक पहुँचकर हमारे सामने नई समस्याएँ उपस्थित हो गई और

उन समस्याओं के परिचय में आना ही वस्तुतः आधुनिकता का प्रथम बोध है। इसके द्वारा हम जीवन के बुनियादी प्रश्नों की ओर ध्यान देने लगे, एक मौलिक आधुनिकता की ओर बढ़ने लगे; पुरातन आधुनिकता की सीमा पार कर।

पुरातन आधुनिकता के विकास में हमारे साहित्य को छायावाद मिला, रवीन्द्रनाथ के माध्यम से। नवीन समस्याओं के समाधान में यही छायावाद गान्धीवाद हो गया। जिस प्रकार पुरातनता को छोड़कर एक मौलिक आधुनिकता समाजवाद के रूप में आई, उसी प्रकार आधुनिकता को छोड़कर मौलिक पुरातनता गांधीवाद के रूप में। इस प्रकार प्राचीन और नवीन दोनों पूर्व और पश्चिम की तरह स्पष्ट हो गये।

छायावाद के साहित्यकों में जिनकी गतिशीलता आधुनिकता की ही ओर थी वे समाजवाद के सामर्थक हो गये। किन्तु जिस प्रकार द्विवेदी-युग, भारतेन्दु-युग की अपेक्षा अधिक आधुनिक होकर भी साहित्य में पुरातन आस्तिकता की ओर उन्मुख था, उसी प्रकार द्विवेदी-युग की अपेक्षा छायावाद (रवीन्द्र) युग में अधिक आधुनिक होकर भी इसके अनेक साहित्यिक पुरोमुख थे। द्विवेदी-युग तो स्पष्टतः पुरोमुख था, यहाँ तक कि वह पिछले दायरे में विकसित छायावाद का भी खुलकर साथ नहीं दे सका, अतएव उसने युग के स्पष्टीकरण में अपने को गान्धीवाद में ही विलीन कर दिया और छायावाद के पुरोगामी साहित्यिक भी या

तो गांधीवाद में चले गये या साम्प्रदायिक हो गये। किंतु कहना यों चाहिए कि द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के पुरोमुख साहित्यिक संस्कृति के नाम पर गांधीवाद के साथ होकर भी भीतर से साम्प्रदायिक थे। (मेरे इस कथन के अपवाद भी हो सकते हैं।) हाँ, किसी की साम्प्रदायिकता स्पष्ट है, किसी की अस्पष्ट। असल में ये वे प्रतिक्रियावादी साहित्यिक हैं जिन्होंने अपने संकुचित जीवन की अपूर्ण साधों को साहित्य में स्वप्निल पूर्णता देनी चाही थी और जब प्रत्यक्ष जीवन में उनके स्थिर स्वार्थों अथवा अपूर्ण साधों के बलिदान की नौबत आई तब वे साम्प्रदायिक हो गये, अपने स्वार्थ-सञ्चालकों के अस्त्र-शस्त्र बन गये। बड़े पैमाने पर इसी बात को हम कांग्रेस के भीतर भी देख सकते हैं। अन्तर केवल स्वार्थों के दायरे का होगा। यह खेद की बात है कि तथाकथित कांग्रेसियों का ऊपरी चोला तो बदल गया है, किन्तु भीतरी परिवर्त्तन अभी नहीं हो सका है। इसी लिए अब क्रांति की अपेक्षा है, स्वयं जनता को मौलिक आधुनिकता की ओर बढ़ने की आवश्यकता है, ताकि पुरातनता में जो कुछ सत्य है, शिव है, सुंदर है, उसे उसी के द्वारा आंतरिक (बुनियादी) आधार मिले। जब तक जनता आगे नहीं बढ़ती तब तक लोक-सेवा के नाम पर वही अन्धेर बना रहेगा जो धर्म के नाम पर पण्डों, पुजारियों, महन्तों और वर्णाश्रमियों में है। संसार की सभी वस्तुएँ आधुनिकता की ओर बढ़ रही हैं, अतएव आश्चर्य नहीं कि धार्मिक

ढोंगियों जैसी मनोवृत्ति ने भी जनताजनार्दन के सेवाक्षेत्र में आधुनिक संस्करण प्राप्त कर लिया हो।

आज जीवन और साहित्य क्रांति की ओर अग्रसर हो चुका है, हम एक प्रगतिशील युग की ओर बढ़ रहे हैं। क़दम उठ चुका है, मंजिल तक कब पहुँचेंगे, कहा नहीं जा सकता। इस समय हमारे बीच एक बड़ा व्यवधान सन् ४० का यूरोपीय महायुद्ध है। यदि इसमें जन-शोषक शक्तियों की ही विजय हुई तो हमारे क़दम को बीच में ही अज्ञात समय के लिए रुक जाना पड़ेगा। *

जीवन जब समस्याओं के बीच आ जाता है, तब साहित्य गद्य की ओर चला जाता है। जब समस्याएँ सुलझ जाती हैं तब जीवन की मनोहरता काव्य में प्रकट होने लगती है। इस प्रकार मानो समय समय पर वस्तुजगत्, भावजगत् के लिए जीवन को नई बुनावट देने के लिए गद्य का ताना-बाना दुरुस्त करता है। पिछली बुनावट में सामंजस्य नहीं था। प्रगतिशील साहित्य आज वही ताना-बाना दुरुस्त कर रहा है। इसके बाद साहित्य में जब फिर भावजगत प्रकट होगा, तब हम गांधी-रवीन्द्र-युग के साहित्य से भी उसी प्रकार आदान ग्रहण करेंगे जिस प्रकार गांधी-रवीन्द्र ने पुराकालीन साहित्य का आदान ग्रहण किया है।

काशी, २०।६।४०

---

* विजय जनशोषक शक्तियों की ही हुई, किन्तु सभी देशों की जनता अकाल-ग्रस्त हो कर अराजकता की ओर बढ़ रही है।

वर्त्तमान कविता का क्रम-विकास

छायावाद की कविता के जन्म और विकास के लिये यहाँ भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के उन्नायक कवियों के रचना-क्रम को ठीक ठीक हृदयंगम करने की जरूरत है। इसके लिये हम उस समय के इन कवियों की काव्य-रचनाएँ देख सकते है-(१) श्रीधर पाठक, (२) जयशङ्कर 'प्रसाद', (३) मैथिलीशरण गुप्त।

[१]

प्रसादजी और गुप्तजी जब साहित्य में प्रकट भी नहीं हुए थे, उससे बहुत पूर्व पाठकजी हिन्दी के काव्य-साहित्य में अपना सम्मानित स्थान बना चुके थे। सन् १८९९ में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में 'श्रीधर-सप्तक' लिखकर पाठकजी का काव्याभिनन्दन किया था। इस प्रकार पाठक जी जब हिन्दी-कविता में अपना निश्चित स्थान बना चुके थे तब द्विवेदी जी का सम्पादन-कार्य्य भी नहीं आरम्भ हुआ था। पाठक जी का काव्य-काल भारतेन्दु-युग का सीमान्त है। तब भी ब्रजभाषा का सम्मोह बना हुआ था, यद्यपि देश की नई परिस्थितियाँ जिस तरह साहित्य को नया क्षेत्र दे रही थीं उसी तरह नई भाषा भी। ब्रजभाषा भक्तों के हाथ से शृङ्गारिकों के हाथ में जाकर मध्ययुग के ऐश्वर्य्योल्लास के अनुरूप बन गई थी, किन्तु नई परिस्थितियों के अनुकूल नई भाषा को बनाना एक प्रश्न

था। व्रजभाषा और खड़ीबोली के पक्ष-विपक्ष में वाद-विवाद होने लगे थे। गद्य में खड़ीबोली ने स्थान बना लिया था किन्तु काव्य में उसका प्रवेश विचाराधीन था। असल बात यह है कि व्यावहारिक जीवन के कारण गद्य तो अपने आप बनता जा रहा था किन्तु हमारा मानसिक जीवन व्रजभाषा में ही बसा हुआ था। अपने अभावों को हमने खड़ीबोली में सोचना आरम्भ कर दिया था किन्तु भावों को खड़ी बोली के साँचे में ढालना नहीं सीख पाया था। अदालतों की भाषा की तरह खड़ीबोली हमारे काव्य से दूर पड़ी हुई थी, काव्य के लिए उसमें साहित्यिक सौन्दर्य्य के सृजन का आरम्भ नहीं हो सका था। व्रजभाषा कविता के लिए बनी-बनाई भाषा थी, खड़ीबोली अनगढ़ थी। अतएव जहाँ कविता के लिए कुछ लोग उसको भी गढ़ने की आवश्यकता महसूस कर रहे थे वहाँ कुछ लोग उसके काव्यभाषा होने में ही सन्देह करते थे। ऐसे ही वातावरण में पाठकजी का कवित्व प्रस्फुटित हुआ। पाठकजी के सामने व्रजभाषा का सम्मोहन और खड़ीबोली का निमंत्रण, दोनों ही था। उन्होंने दोनों ही का सम्मान रखा। दोनों का सहयोग लिया। भाषा के सौन्दर्य्य सौर माधुर्य्य के लिए उन्होंने निःसंशय व्रजभाषा को अपनाया, पद-विन्यास में ओज लाने लिये खड़ीबोली के छन्दों को अपनाया और भाव-विस्तार के लिये (व्रजभाषा की एकरसता भंग करने के लिये) मनोवाञ्छित अँगरेजी काव्यों का अनुवाद किया। व्रजभाषा, खड़ी बोली और

अँगरेजी इन विविध उपादानों के व्यञ्जन में ब्रजभाषा की मधुर सरलता ने ही प्रधान होकर उनके काव्य को रसात्मक कर दिया। यों कहें, पाठक जी एक कोमल आधुनिकता के कवि थे; उनके द्वारा मानो अविकच खड़ीबोली ही ब्रजभाषा की सुकुमार आधुनिकता बन गई। काव्य में भारतेन्दु-युग ब्रजभाषा का अन्त है, द्विवेदी युग खड़ीबोली का उदय है; इसी अस्तोदय की द्वाभा पाठकजी की कविता है।

[२]

तो, द्विवेदी-युग के उदय के पूर्व, हिन्दी-कविता में ब्रजभाषा प्रधान थी जिसके दो रूप थे—एक तो रीतिकालीन, दूसरे भारतेन्दु-युगीय। भारतेन्दु ने रीति-काल को 'सुन्दरी तिलक' (ब्रजभाषा-काव्य-संग्रह) के रूप में अपनाया, स्वयं भी उस ढङ्ग की कविताएँ लिखीं। इसके अतिरिक्त साधारण जनता के भीतर प्रचलित काव्यप्रवृत्तियों (भक्तों के पद से लेकर चैती, कजरी, लावनी, ख्याल, गजल) का भी संकलन किया। यह मानो भारतेन्दु की ओर से मध्ययुग की कविता और मध्ययुग की जनता को लिपिबद्ध कर लेने का प्रयत्न था, पुरानी रक़म को बही पर सही कर लेने का आयास।

इसके अतिरिक्त, भारतेन्दु जिस युग में उत्पन्न हुए थे उसका अपना भी कुछ तक़ाजा था। वह युग भारत में बृटिश शासन के शैशव का था, मानो आधुनिकता की तुतलाहट का युग था।

उस युग ने हमारे जीवन और साहित्य में भी जो एक नवीन शिशु प्रेरणा उत्पन्न की उसी का परिणाम है भारतेन्दु की राष्ट्रीय रचना और रीतिकाल से भिन्न उनकी वह मुक्तक काव्यशैली जिसके अन्तर्गत 'नारद की वीणा' और 'गङ्गा का वर्णन' इत्यादि आते हैं। जिस ब्रजभाषा में षड्ऋतु वर्णन और नायिका-निरूपण था उसमें इस प्रकार के काव्यपरिवर्त्तन ने एक नूतन चित्रपट प्राप्त किया।

भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि साहित्यिकों में से कुछ ने भारतेन्दु-युग की समस्त काव्य-प्रवृत्तियों को ग्रहण किया*, कुछ ने उस युग की किसी प्रवृत्ति विशेष को। कुछ ने रीतिकालीन काव्य-कला से अपना प्रारम्भ कर भारतेन्दुकालीन नई काव्यकला का उत्कर्ष किया। भारतेन्दु-युग की नई काव्यकला की ओर आनेवाले दो विशेष कवि पाठकजी और रत्नाकरजी हैं। आज की भाषा में यदि हम कहें तो पाठकजी भारतेन्दु-युग के साहित्यिक लिबरल थे, रत्नाकरजी साहित्यिक कंजर्वेटिव। व्यक्ति-चित्र की दृष्टि से यदि हम देखें तो दोनों के बाह्य वेश-विन्यास में जितना अन्तर है उतना ही काव्यकला में भी। रत्नाकरजी कट्टर अपरिवर्तनवादी थे। उन्होंने भारतेन्दु-कला के माध्यम से रीतिकाल का विकास किया, पाठकजी ने प्रारम्भिक आधुनिक काल के माध्यम से भारतेन्दु-कला

---

* यहाँ हम स्व० श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' को स्मरण कर सकते हैं जो भारतेन्दुजी के प्रतिरूप थे।

का। पाठकजी ब्रजभाषा को खड़ी बोली की ओर ले जा रहे थे, रत्नाकर जी खड़ीबोली को भी ब्रजभाषा की ओर ले जाना चाहते थे। ब्रजभाषा में खड़ीबोली का ओज लाने के प्रयत्न में रत्नाकरजी की भाषा परुष हो गई है और खड़ी बोली में ब्रजभाषा का माधुर्य्य लाने के प्रयास में पाठकजी की भाषा सुकुमार। एक ओर रत्नाकरजी ब्रजभाषा की क्षमता बढ़ाने में लगे हुए थे, दूसरी ओर पाठकजी ब्रजभाषा को नवीन शरीर (खड़ी बोली) देने में।

[३]

किन्तु विकास की इन विभिन्न भूमियों में कविता ब्रजभाषा में ही खिल रही थी। यहाँ तक कि वर्तमान खड़ीबोली की कविता के अग्रणी कवि प्रसादजी और गुप्तजी भी जब प्रथम-प्रथम अपनी रचनाएँ लेकर आये तो ब्रजभाषा में ही। हाँ, गुप्तजी ने किसी साहित्यिक सुयोगवश नहीं, बल्कि अपने पिता की काव्य-परम्परा से ब्रजभाषा की प्रेरणा ली थी। उस समय ब्रजभाषा में उन्होंने जो कवितायें लिखीं वे पुरानी अन्योक्ति पद्धति में थीं। साहित्यिक सुयोग-वश कविता लिखने का समय तो गुप्तजी के लिए द्विवेदीजी के सम्पादन-काल में ही आया। उन्हें तो द्विवेदी-युग या खड़ी-बोली की कविता का श्रेय मिलना था, अतएव अपनी भावी सरस्वती की उपासना में उन्होंने ब्रजभाषा का अक्षरारम्भ मात्र किया। किन्तु प्रसादजी ने ब्रजभाषा का अक्षरारम्भ ही नहीं किया, बल्कि उनका प्रारम्भिक साहित्य भी उसी में बना। यों

कहें, प्रसाद हमारे साहित्य में भारतेन्दु-युग का विकास लेकर आये, गुप्तजी द्विवेदी-युग का प्रारम्भ। कालान्तर से गुप्तजी द्वारा जब द्विवेदी-युग का भी काव्य-विकास होने लगा तब प्रसाद ब्रजभाषा से खड़ीबोली में आ गये। वे भारतेन्दु और द्विवेदी-युग के सन्धिस्थल के विकासमान कवि हैं। प्रसाद की भाँति जो ब्रजभाषा से खड़ीबोली में नहीं आ सके उनमें भारतेन्दु-युग का संस्कार बना रहा। ऐसे कवियों में सर्वश्री राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और कविरत्न सत्यनारायण उलेखनीय हैं।

कविता में खड़ीबोली के स्थान बना लेने के पूर्व, भारतेन्दु-युग के सीमान्त में, नवयुवक कवियों के आदर्श कवि पाठकजी थे। प्रसाद के भी वे प्रिय कवि थे। अपनी ब्रजभाषा की कविताओं के विकास में पाठकजी की कविता से प्रेरित थे। प्रसादजी का रचना-काल यदि बहुत पीछे जाकर देखें तो संवत् १९६२ या सन् १९०५ है। यह लग भग वह समय है जब प्रसादजी ने अपने प्रेम-पथिक (खण्डकाव्य) की रचना पहले ब्रजभाषा में ही की थी। संवत् १९७० में खड़ीबोली में 'प्रेमपथिक' (अतुकान्त) का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। उसी की संक्षिप्त भूमिका में निदेश किया गया है कि यह काव्य ६ वर्ष पहले ब्रजभाषा में लिखा गया था। इसके पूर्व की किसी रचना का परिचय नहीं मिलता। अतएव, यहाँ हम यह देख सकते हैं कि प्रसाद को संवत् १९६२ (सन् १९०५) तक हिन्दी-कविता का

कौनसा पृष्ठभाग मिल चुका था। यहाँ स्पष्ट रूप से पाठकजी का काव्य-विकास सामने आता है। सन् १९ ४ तक पाठकजी की ये महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं—(१) 'एकान्त-वासी योगी' (खड़ीबोली में अनुवादित खण्डकाव्य, सन् १८८६); (२) 'ऊजड़ गाम' (व्रजभाषा में अनुवादित खण्डकाव्य, सन् १८८९); (३) 'श्रान्त पथिक, (अनुवादित खण्डकाव्य, सन् १९०२); (४) ,काश्मीर-सुषमा' (मौलिक वर्णनात्मकाव्य, सन् १९०४); इकके अतिरिक्त (५) 'देहरादून' (मौलिक वर्णनात्मक काव्य, संवत् १९७२)। पाठकजी की मुक्तक कविताओं के भी कई संग्रह हैं। किन्तु पाठकजी का कवित्व उनके खण्डकाव्योंमें ही घनी-भूत है। मुक्तकाकी कोई विशेष शैली वे दे नहीं सके, हाँ आलम्बन अवश्य नये दिये गये हैं। पाठकजी की कृतियों द्वारा भारतेन्दु-युगका काव्य-साहित्य अपेक्षाकृत अवश्य प्रशस्त हुआ। उनके द्वारा प्रबन्ध-काव्यों की नूतन प्रेरणा आई, साथ ही आलम्बनों के परिवर्त्तन से मुक्तक क्षेत्र में भी नवोद्भावना की आवश्यकता सूचित हुई।

इसी काव्यपृष्ठ पर प्रसाद का रचना-काल प्रारम्भ होता है।

जिस प्रबन्धात्मक शैली का श्रीगणेश पाठकजी ने अँगरेजी के अनुवादों से किया, गुप्तजी ने बँगला के अनुवादों से उसकी श्रीवृद्धि की। गुप्त जी ने मुक्तक शैली को भी उत्कर्ष दिया। किन्तु यह संयोग की बात है कि पाठक जी की भाँति गुप्तजी का भी कवित्व उनके प्रबन्धकाव्यों में ही घनीभूत है।

पाठकजी के काव्यानुवादों ने प्रसाद में खण्डकाव्य की रुचि-जगा दी थी; उनकी वर्णनात्मक कविता ने उनके छोटे-छोटे खण्ड-काव्यों ('प्रेम-पथिक', 'महाराणा का महत्त्व', 'करुणालय') में खड़ीबोली की नवीन शैली ग्रहण की। उनकी यह कथा-परक रुचि विविध रूपों में विकसित होती गई—चम्पू, नाटक, कहानी, उपन्यास। किन्तु प्रसादजी मुख्यतः भावप्रवण साहित्यिक थे, अपनी सभी प्रकार की कृतियों में। ब्रजभाषा से खड़ीबोली का विन्यास ग्रहण करने पर उनकी भावात्मक कविता ने ही विकास किया, मुक्तकों में ही नहीं, प्रबंध-काव्यों में भी; उनका 'कामायनी' महाकाव्य भी भावप्रधान है, वस्तु (कथा) प्रधान नहीं। उनकी गद्यकृतियाँ भी भावप्रधान हैं।

उनकी गद्य-पद्यमयी कृतियों का आद्य संग्रह 'चित्राधार' है, जिसका रचना-काल संवत् १९६६–६८ (सन् १९०९–११ ई०) निर्दिष्ट किया गया है। काशी के अस्तङ्गत मासिक 'इन्दु' में 'चित्राधार' से कुछ पूर्व की भी कविताएँ प्रकाशित हैं, भारतेन्दु-कालीन वर्णनात्मक शैली में। ये कविताएँ मानो भारतेन्दुकालीन काव्यशैली के पद्य-प्रबंध हैं। तब तक खड़ीबोली का 'पद्य-प्रबंध' नहीं बन सका था।

ब्रजभाषा के पद्य-प्रबंध से 'चित्राधार' तक आते आते प्रसाद को ब्रजभाषा में नवीन भावात्मक मुक्तक का अभाव अखरने लगा था। संवत् १९६७ के मासिक 'इन्दु' में उन्होंने एक लेख लिखा

था—'कवि और कविता।' उस लेख में उनका यह मन्तव्य ध्यान आकर्षित करता है—"सामयिक पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण करके जो समाज के भाव बदल रहे हैं उनके अनुकूल कविताएँ नहीं मिलतीं और पुरानी कविता को पढ़ना तो महादोष-सा प्रतीत होता है, क्योंकि उस ढङ्ग की कविताएँ तो बहुतायत से हो गई हैं।"—यह है प्रसाद की नवीन काव्य-प्रेरणा। यहीं से प्रसाद के भीतर (उन्हीं के कथनानुसार 'पाश्चात्य'-शैली पर) नवीन काव्योद्भावना की रुचि उत्पन्न होती है। तदनुकूल उन्होंने जो नवीन भावात्मक मुक्तक लिखे, उनका संकलन भी 'चित्राधार' में मिलता है। कुछ पंक्तियाँ सामने हैं—

नीरव प्रेम

प्रथम भाषण ज्यों अधरान में—
रहत है तऊ गूँजत प्रान में—
तिमि कहौ तुम हूँ चुप धीर सों—
विमल नेह-कथान गँभीर सों—
कछुक हौ, नहिं पै कहि जात हौ
कछु लहौ, नहिं पै लहि जात हौ॥

विस्मृत प्रेम

सबहिं विस्मृत सिन्धु तरंग में
प्रणय की लिपि धोइ उमंग में

यदपि उज्ज्वल चित्त कियो निजै
तदपि क्यों नहिं राग तजौं अजौं !

अँगरेजी के साहचर्य्य से भारतेन्दु-युग को पाठकजी जो नवीन कवित्व दे रहे थे,प्रसाद की उक्त पंक्तियोंमें उसी का किशोर कण्ठ है।

प्रसाद जी ने जिस समय (संवत् १९६७) व्रजभाषा में ये पंक्तियाँ लिखी थीं, उस समय गुप्तजी खड़ीबोली में आ चुके थे, लोकप्रिय होने लगे थे। प्रसादजी के उक्त लेख में ही गुप्तजी की 'केशों की कथा' का भी उल्लेख है। 'केशों की कथा' खड़ीबोली का रसोद्रेक करने में सहृदयों की संवेदनशीलता पा गई थी। इसके अतिरिक्त गुप्तजी कृत 'रंग में भंग' (प्रथम संस्करण सन् १९०९) और 'जयद्रथ-वध' (प्रथम संस्करण सन् १९१०) नामक खण्डकाव्य भी प्रकाशित हो चुके थे। हम देखते हैं कि पाठक जी के बाद गुप्तजी द्वारा कविता के पूर्णत: खड़ीबोली में आ जाने पर भी प्रसाद व्रजभाषा में ही काव्य-रचना कर रहे थे। एक ओर खड़ीबोली में गुप्तजी वर्णनात्मक-मुक्तक और प्रबन्ध-काव्य लिख रहे थे, दूसरी ओर प्रसादजी व्रजभाषा में नवीन भावात्मक-मुक्तक। व्रजभाषा के भीतर एक अभिनव काव्य-संस्कार लेकर भी प्रसाद खड़ीबोली के आते ही खड़ीबोली में ही क्यों नहीं काव्य-रचना करने लगे ? इसका कारण यह कि जिस भाषा से उन्होंने प्रारम्भिक काव्य-प्रेरणा ली थी उस भाषा पर उनका विशेष मोह था। कदाचित् उनके भीतर व्रजभाषा और खड़ीबोली के बीच

एक स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा भी थी। हृदय के दाहिने और बायें पार्श्व की भाँति उनके भीतर पुरातन और नूतन दोनों संस्कार स्पन्दित हो रहे थे। यों कहें, वे एक पुरोगामी-प्रगतिशील साहित्यिक थे। 'इंदु' में प्रकाशित उल्लिखित लेख में आगे उन्होंने लिखा है—'पर नहीं, उनसे (पुरानी कविताओं से) घबड़ाना नहीं चाहिए, उनके समय के वही भाव उज्ज्वल गिने जाते थे और अब भी पुरातत्त्व की दृष्टि से उन काव्यों को पढ़ने में अलौकिक आनन्द मिलता है।" उनका यही पुरातन संस्कार उनके ऐतिहासिक नाटकों में प्रकट हुआ।

प्रसाद की साहित्यिक गतिविधि यह थी कि अपने समय के प्राप्त साहित्य से वे आरम्भिक प्रेरणा ग्रहण करते थे, फिर साहित्य के नूतन परिष्कार के आ जाने पर उसे भी अपना लेते थे। इस प्रकार साहित्य के तीन युगों में वे अपने पग रख चुके हैं—भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद-युग। चतुर्थ-युग (प्रगतिशील युग) के आते-आते वे साहित्य से ही नहीं, संसार से भी चले गये। फिर भी अपने नाटकों में प्रगतिशील साहित्य की भी कुछ-कुछ प्रेरणा वे ले चुके थे, किन्तु मुख्यतः उनकी आस्थाएँ प्राचीन थीं।

छायावाद के वर्तमान कवियों में प्रसाद सबसे सीनियर होकर भी साहित्य में जूनियर होकर चल रहे थे—व्रजभाषा में वे पाठकजी के जूनियर थे, खड़ीबोली में गुप्तजी के। हाँ, वे जूनियर रहकर ही अपने विविध समयों का तारुण्य ग्रहण करते थे और

साहित्य में जब उनसे भी जूनियर तरुण आ जाते थे तब वे उनके विकास से जा मिलते थे। इस भाँति भारतेन्दु-युग से चलकर, द्विवेदी-युग को पार कर, छायावाद-युग में वे पन्त, निराला के नूतन काव्य-प्रयत्नों में भी सम्मिलित हो गये थे, 'लहर' द्वारा।

प्रसाद ने ब्रजभाषा में जिस नवीन भावात्मक-मुक्तक की सृष्टि की उसके लिए खड़ीबोली की भाषा नहीं बन सकी थी। गुप्तजी भाषा बना रहे थे। एक प्रकार से द्विवेदी-युग की सम्पूर्ण रचनाएँ खड़ी बोली को रच रही थीं। हाँ, गुप्तजी भाषा भी रच रहे थे और भाव भी; मानो परिधान में गोंट लगा रहे थे। उन्होंने पहिले तो खड़ीबोली के 'पद्य-प्रबन्ध' की रचना की, फिर पद्य-प्रबन्ध से प्रबन्ध-काव्य की ओर उन्मुख हुए। सम्भवतः सन् १९०८ से वे खड़ी बोली की रचना प्रारम्भ करते हैं और सन् १९१५ तक सात-आठ वर्षों में उसका भी एक काव्य-साहित्य प्रस्तुत कर देते हैं। इतिवृत्तात्मक मुक्तक और प्रबन्धात्मक काव्य वे दे चुके थे, सम्भवतः सन् १९१४-१५ में भावात्मक मुक्तक (गीतिकाव्य) की ओर भी वे उन्मुख हुए। 'झङ्कार' उनके गीतिकाव्यों का संग्रह है, जिसमें उस समय के गीतिकाव्य भी सम्मिलित हैं।

गुप्तजी की कविताओं द्वारा खड़ीबोली का प्रचार हो जाने पर प्रसाद भी ब्रजभाषा से खड़ीबोली में आ गये। 'चित्राधार' को भारतेन्दु-युग में छोड़कर हम 'कानन-कुसुम' से प्रसाद को खड़ी-बोली (द्विवेदी-युग) में प्रवेश करते देखते हैं। 'कानन-कुसुम' संवत्

१९६६-७४ तक की कविताओं का संग्रह है। इसी बीच (संभवत: संवत् १९६८ में) खड़ीबोली में उनका रचना-काल प्रारम्भ होता है। स्पष्ट है कि खड़ीबोली में वे गुप्तजी के बाद बहुत विलम्ब से नहीं आये। यह भी स्पष्ट है कि खड़ीबोली की अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में वे गुप्तजी से प्रेरित भी थे। फिर भी खड़ीबोली को अपना व्यक्तित्व भी देने में सयत्न थे। 'कानन-कुसुम' में ही उन्होंने अतुकान्त कविता का श्रीगणेश कर दिया था, जिसने आगे चलकर उनके छोटे-छोटे खण्डकाव्यों ('प्रेम-पथिक', 'महाराणा का महत्त्व' और 'करुणालय') में अपना विशेष स्थान बनाया।

'कानन-कुसुम' में व्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों की कविताओं का संग्रह है। व्रजभाषा में प्रसाद जिस भावात्मक-मुक्तक (लीरिक कविता) की ओर उन्मुख थे उसे नई भाषा देने के लिए 'कानन-कुसुम' उनकी ओर से खड़ीबोली की अपनी तैयारी मात्र है। वह उनकी खड़ीबोली की काव्य-प्रवेशिका है। इसके बाद खड़ीबोली में उनकी लीरिक कविता का प्रथम रूप 'झरना' द्वारा प्रकाशित हुआ। जिस भावात्मक मुक्तक को वे व्रजभाषा में छोड़ आये थे, 'झरना' में मानो उसका पुनर्जन्म हुआ, एक नये आकार-प्रकार में। 'झरना' के बाद प्रसाद उत्तरोत्तर नवीन काव्य-कला की ओर ही अग्रसर होते गये। 'झरना' तो उनके नूतन कवित्व का आदि स्रोत है।

'झरना' (प्रथम संस्करण) की कविताओं का समय संवत् १९७१-७२ है। 'झरना' के बहुत बाद सन् १९३५ में उनका 'लहर' नामक काव्यसंग्रह प्रकाशित हुआ। 'झरना' और 'लहर' के बीच में उन्होंने जिन मुक्तक कविताओं की रचना की थी, वे 'लहर' में न संगृहीत होकर या तो उनके नाटकों में सम्मिलित हो गईं, या 'झरना' के नये संस्करण में। बीच की उस कविताओं का 'झरना' में सम्मिलित हो जाना अनुचित नहीं हुआ, क्योंकि उनमें 'झरना' के कवित्व का ही विकास है; 'लहर' में तो उन्होंने उस काव्य-विकास (नई हिन्दी-कविता के द्वितीय उत्थान) को ग्रहण किया जो प्रसाद के परिवर्त्ती काल में पन्त और निराला की कविताओं से प्रस्फुटित हुआ था। हाँ, 'झरना' में संगृहीत नई कविताओं का समय-निर्देश न होने के कारण उसके आदिरूप को समझने में भ्रम हो सकता है।

हम देखते हैं कि प्रसाद के 'झरना' का लगभग वही समय पड़ता है जो गुप्तजी के 'झङ्कार' की उन गीत-कविताओं का जो प्रायः सन् १९१४-१५ में 'सरस्वती' में छपी थीं। यह नहीं कहा जा सकता कि इस नवीन भावात्मक मुक्तक के क्षेत्र में गुप्तजी प्रसाद से या प्रसादजी गुप्तजी से प्रेरित थे। दोनों का प्रेरणाकेन्द्र अन्यत्र जान पड़ता है। प्रसादजी ने जैसा कि लिखा था—"सामयिक पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण करके समाज के भाव बदल रहे हैं"—इसी का परिणाम यह नवीन भावात्मक-मुक्तक था। यह भाव-

परिवर्त्तन भारतेन्दु-युग में ही शुरू हो गया था। उस युग के स्वर्गीय गोस्वामी किशोरीलालजी ने शेली की एक कविता का व्रजभाषा में अनुवाद भी किया था। इसी लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (झाँसी) के सभापति-पद से बूढ़े गोस्वामीजी ने कहा था— "मैंने चालीस वर्ष पहले छायावाद लिखा था।"

हमें आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए कि सर्वप्रथम बंगाल इस भाव-परिवर्त्तन की दिशा में अग्रसर और उन्नत हो चुका था। यों तो गुप्तजी खड़ीबोली की वर्त्तमान कविता के पूर्वपृष्ठ हैं, भाषा के संस्कारक हैं। किन्तु भापा के बाद जब भाव की ओर भी ध्यान गया तो निःसंशय गुप्तजी और 'प्रसाद' जी दोनों ने एक ही समय में वंगीय साहित्य पर भी दृष्टिपात किया। आधुनिकता की दृष्टि से हिन्दी से बाहर के इस साहित्य की जिस सतह पर जो अपने को अवस्थित कर सका, वह उसी सतह का प्रभाव अधिक ग्रहण कर सका। गुप्तजी की साहित्यिक आधुनिकता माइकेल और नवीनचन्द्र सेन की दिशा में थी; प्रसाद और उनके बाद के छायावादी कवियों की आधुनिकता रवीन्द्रनाथ की दिशा में। निःसन्देह व्रजभाषा के बाद काव्य की रसात्मकता का विकास बँगला में ही हुआ था। हिन्दी-कविता की भाषा बदल जाने के कारण खड़ीबोली की कविता किसी जीवित काव्योचित भारतीय भाषा से ही मनोहरता ग्रहण कर अपनी मराठी की-सी शुष्कता को आर्द्र कर सकती थी। खड़ीबोली को बँगला एक ऐसी

ही भाषा मिली। संस्कृत की संस्कृति एक दूसरे को निकट लाने में सहायक हुई।

[४]

तो द्विवेदी-युग की आधुनिकता माइकेल और नवीनचन्द्र-सेन की दिशा में थी; अभिव्यक्ति नवीन होते हुए भी काव्य-वस्तु पुरानी थी। तब तक हमारे आधुनिक जीवन का इतना प्रसार नहीं हो सका था कि हम इसी के भीतर से काव्य के उपादान लेकर नई अभिव्यक्ति को नया जीवन भी दे देते। बाह्य विन्यास की भाँति साहित्य में अँगरेजी अभिव्यक्ति तो आ चली थी किन्तु हम वर्त्तमान में रहकर भी अतीत में थे। बँगला-काव्य की यह प्रगति द्विवेदी-युग की खड़ीबोली के अनुकूल थी। 'विरहिणी-व्रजांगना', 'मेघनाद-वध' और 'पलासी युद्ध' का अनुवाद इसी का सूचक है।

इसके बाद की काव्य-प्रगति रवीन्द्रनाथ की है। हमारे साहित्य में द्विवेदी-युग के बाद की आधुनिकता छायावाद के रूप में रवीन्द्र-नाथ द्वारा आई। रवीन्द्रनाथ की काव्य-प्रेरणा से मुक्तक और गीतिकाव्य को विशेष उत्कर्ष मिला। वर्तमान भारतीय साहित्य के वे सर्वप्रथम रोमैन्टिक कवि हैं और अपने बाद की पीढ़ियों के गुरुदेव। वे हमारे वर्तमान वाङ्मय के 'कवीर्मनीषी' हैं। रावीन्द्रिक प्रेरणा से पूर्व के कवियों को हम अँगरेजी के 'रोमैन्टिक रिवाइवल' से पूर्व के कवियों में रख सकते हैं। रवीन्द्र-काव्य से न केवल अभिव्यक्ति में बल्कि काव्य के आलम्बनों में भी नवीनता

आई। सन् १९१३ में 'गीताञ्जलि' पर नोबुल-पुरस्कार पाने पर विश्व-साहित्य का ध्यान उनकी ओर गया और हमारे अन्त:प्रान्तीय साहित्य पर उनका प्रभाव पड़ने लगा। गुप्तजी भी इस प्रभाव से अस्पृश्य नहीं रहे, उनके 'झंकार' में यत्र-तत्र रवीन्द्र-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है।

तो सन् १९१४-१५ में वह जो नवीन भावात्मक-मुक्तक अवतीर्ण हुआ (जिसका नामकरण अब निश्चित रूप से 'छायावाद' हो गया है), उसी का विकास द्विवेदी-युग के बाद के काव्य में होता गया। द्विवेदी-युग के काव्य-कानन में उस गीत–मुक्तक ने विकसित वसन्त (छायावाद) का मुकुल दिया था। जिस प्रकार भारतेन्दु-युग के भीतर से प्रसादजी छायावाद की ओर आ रहे थे, उसी प्रकार द्विवेदी-युग के भीतर से भी छायावाद के नये कवि जन्म ले रहे थे—पन्त और निराला। यह एक संयोग की बात है कि इनका रचना-काल सन् १९१५-१७ से प्रारम्भ होता है। उस समय तक द्विवेदी-युग में जो नवीन मुक्तक आ गया था उसी को विकसित रूप-रंगों में साकार करने के लिए इनका आविर्भाव हुआ। उस समय ये छायावाद का शैशव ग्रहण कर रहे थे। यह शैशव प्रसादजी के 'झरना' से प्रभाव-रहित था। हाँ, इनकी आरम्भिक प्रेरणा का श्रेय गुप्तजी की कविताओं को दिया जा सकता है। सच तो यह कि आरम्भ में खड़ीबोली का संस्कार सबको गुप्तजी से ही मिला। पन्त और निराला ने भी प्रसाद की भाँति ही

द्विवेदी-युग (गुप्त-काव्य) से खड़ीबोली का काव्य-संस्कार लिया। अन्तर यह है कि प्रसाद का कण्ठ खड़ीबोली में खुल चुका था, ये अपना कण्ठ खोल रहे थे। इसके बाद जिन प्रेरणा-केंद्रों (बँगला और अँगरेजी) से द्विवेदी-युग में नवीन भावात्मक मुक्तक का दर्शन हुआ, उन्हीं प्रेरणा-केन्द्रों से पन्त और निराला ने भी अपने भावी विकास का श्रीगणेश किया।

उस समय प्रसाद की रचनाओं से भी प्रेरित होकर कतिपय युवक कवि नवीन काव्यक्षेत्र में अवश्य आये—सर्वश्री मुकुटधर पांडेय, गोविन्दवल्लभ पन्त, स्व० शिवदास गुप्त 'कुसुम'। व्रज-भाषा का माधुर्य-संस्कार खड़ीबोली में लेकर आने के कारण गुप्तजी की अपेक्षा प्रसाद की कविता की ओर इन युवक कवियों का अधिक झुकाव हुआ। मुकुटधर गुप्तजी से भी प्रेरित थे, अर्थात् उन्हें भाषा-संस्कार गुप्तजी से और भाव-संस्कार प्रसादजी से प्राप्त था। यह उनकी प्रारम्भिक प्रेरणाएँ हैं, इसके अरितिक्त उनमें अपने भी स्वाध्याय का व्यक्तित्व था। खेद है कि असमय में ही उनका काव्य-स्रोत सूख गया। द्विवेदी-युग में वे प्रथम प्राञ्जल कवि हैं, जैसे छायावाद-युग में पन्त जी।

गुप्तजी द्वारा कविता के खड़ीबोली में आ जाने पर एक अन्य कवि ने भी अपने व्यक्तित्व का आरम्भ किया था। वे हैं श्री माखनलाल चतुर्वेदी, 'एक भारतीय आत्मा'। जिस प्रकार प्रसाद की रचनाओं से प्रेरित होकर उल्लिखित कवि आये थे, उसी

प्रकार चतुर्वेदीजी की रचनाओं से भी प्रेरित होकर कुछ नवयुवक कवि आ गये थे—सर्वश्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, गोकुलचन्द्र शर्मा, उदयशङ्कर भट्ट, इत्यादि। प्रसाद-ग्रूप की अपेक्षा इस ग्रूप के कवि साहित्य में अधिक गतिशील रहे। पन्त और निराला के आगमन के पूर्व चतुर्वेदी-ग्रूप ही द्विवेदी-युग से भिन्न कविता को अग्रसर कर रहा था; यों कहें, गुप्तजी को रोमैंटिक रूप दे रहा था। यह कवि-समूह भाव-विदग्ध उतना नहीं था जितना वाग्विदग्ध; यह वक्तृत्व-प्रधान था। गुप्तजी ने हमारे काव्य-साहित्य को सामूहिक चेतना दे दी थी; इन नये कवियों ने मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूतियों को भी उद्गार दे दिया। हमारे काव्य-साहित्य में आज भी इन कवियों का कण्ठ मुखरित है।

जिस भावात्मक-मुक्तक का विकास छायावाद के नाम से हुआ निःसन्देह द्विवेदी-युग में उसका कवित्व उतना घनीभूत नहीं हुआ। प्रसाद-काव्य से प्राप्त प्रेरणा का स्थान उस युग में इतना ही है जितना इस युग में निराला के गीतिकाव्य का। छायावाद के घनीभूत कवित्व के लिए समय की अपेक्षा थी, प्रसाद इसी के पूर्व-सूचना थे। असल में जिस प्रकार खड़ीबोली की भाषा बन जाने पर हमारे साहित्य में प्रसाद आये, उसी प्रकार प्रसाद और गुप्त के सम्मिलित प्रयत्न से खड़ीबोली में व्यञ्जकता आ जाने पर छायावाद के उन्नायक कवि उदित हुए। जैसा कि पहले कहा है,

पन्त और निराला ने द्विवेदी-युग से काव्य-संस्कार लिया तथा गुप्त और प्रसाद की भाँति हिन्दी से बाहर का विस्तार। यह विस्तार रवीन्द्रनाथ के माध्यम से विश्व-काव्य तक पहुँचा।

[५]

पन्त और निराला से पहले प्रसादजी नवीन काव्य-क्षेत्र में ज़रूर आ चुके थे और जिस गति से द्विवेदी-युग का साहित्य चल रहा था उस हिसाब से उनका साहित्य अपेक्षाकृत नवीन लगता था। इस प्रकार जब वे नवप्रसिद्ध हो चुके थे तब पन्त और निराला अप्रकाश्य रूप से निजी काव्य-रुचि का विकास कर रहे थे। सन्' २० तक, जब कि ये अपने विकास में लगे हुए थे, द्विवेदी-युग का प्राधान्य था। सन्' २० के बाद से ये कवि प्रकाशमान हुए। सन्' २४ तक इनकी इतनी काव्य-कृतियाँ प्रकाशित हुईं कि द्विवेदी-युग के बाद छायावाद-युग आ गया। सन्' २४ से जब छायाबाद के इन कवियों का प्रभाव बढ़ा और उस प्रभाव से नई साहित्यिक पीढ़ी की भाव-जिज्ञासा जगी तब प्रसादजी को भी अपने कला-विस्तार के लिए उपयुक्त वातावरण मिला। इसी समय से उन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ लिखीं। इस प्रकार नवीन काव्य-कला का (साथ ही सन्' २० की राष्ट्रीय जागृति में गद्य-साहित्य का भी) उत्थान-काल सन्' २४ में ही सामने आता है। द्विवेदी-युग में नवीन साहित्य की पृथक्-पृथक् साधना करनेवाले कलाकारों का यह संगम-काल है। पन्त और 'निराला' ने

काव्य-प्रवाह को 'पूर' दे दिया। इसी समय से दो और नये कवियों का भी उदय होता है—सर्वश्री महादेवी वर्म्मा और रामकुमार वर्म्मा। इनके बाद, मुख्यतः पन्त और महादेवी की काव्य-प्रेरणा से अन्य अनेक जूनियर कवियों का दर्शन भी हिन्दी-संसार को मिला। कुछ नवयुवक कवि माखनलालजी के भी प्रतीक बने रहे। निराला का काव्य-प्रभाव अपनी प्रतिभा की जटिलता में सुलभ नहीं हो सका। पन्त और निराला की प्रारम्भिक काव्य-प्रेरणा से पहले जो नये-नये कवि आये ये उनका कलाबोध अपरिपक्व था, उनमें परिष्कृति और आत्मपरिणति नहीं थी, वे साहित्य में चल भी नहीं सके। किन्तु सन् '२७ के बाद पन्त और महादेवी के सम्यक् प्रभाव से जो नवयुवक कवि आये वे स्वयं अपनी-अपनी आँखों से देखे हुए संसार का व्यक्तित्व लेकर आये। पन्त और महादेवीं से कलाबोध पाकर उसमें अपनी-अपनी दुनिया का संगीत दे दिया। महिला-संसार से भी कुछ अच्छी कवयित्रियाँ आईं।

निदान, छायावाद में भारतेन्दु-युग की परिणति हैं प्रसादजी; द्विवेदी-युग की परिणति हैं माखनलाल, पन्त, निराला, महादेवी, रामकुमार, इत्यादि। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी–युग के मध्यवर्ती हैं श्रीधर पाठक तथा द्विवेदी युग-और छायावाद–युग के मध्यवर्ती हैं मैथिलीशरण गुप्त। पाठकजी की नवीन काव्यप्रेरणा पुरानी अँगरेजी कविता है; गुप्तजी की नवीन काव्यप्रेरणा पुरानी

बँगला कविता। हिन्दी की सीमा में दोनों ही आधुनिक हैं। एक में ब्रजभाषा की वृद्ध आधुनिकता है, दूसरे में खड़ीबोली की शिशु आधुनिकता। प्रसाद ने वृद्ध आधुनिकता को यौवन दिया; माखन-लाल, निराला, पन्त, महादेवी, रामकुमार इत्यादि ने शिशु आधुनिकता को।

इन विविध कवियों ने अपनी-अपनी विदग्धता के अनुसार अपने विकास में भाषा के विभिन्न प्रभाव भी ग्रहण किये हैं— किसी में उर्दू का प्रभाव अधिक है, किसी में बँगला का, किसी में संस्कृत का, किसी में अँगरेजी का अथवा किसी में अँगरेजी और संस्कृत का, किसी में अँगरेजी, संस्कृत और बँगला का। इन विभिन्न प्रभावों ने इन कवियों के कवित्व को विभिन्न व्यक्तित्व दे दिया है।

[६]

पाठकजीके सीनियर होते हुए भी जिस प्रकार खड़ीबोली की कविता के प्रतिनिधि-कवि गुप्तजी हैं, उसी प्रकार प्रसादजी के सीनियर होते हुए भी छायावाद के प्रतिनिधि-कवि पन्तजी हैं। प्रतिनिधित्व का आधार प्राञ्जलता है। गुप्तजी ने खड़ीबोली को परुष प्राञ्जलता दी, पन्त ने छायावाद को सुकुमार प्राञ्जलता, जिसका एक नन्हा-सा ठेठ बीज श्री शिवाधार पांडेय की कविताओं में है। परुष-प्राञ्जलता को द्विवेदी-युग में अंतः-स्पंदन दिया प्रसाद ने, सुकुमार प्राञ्जलता को अंतःस्पंदन

मिला महादेवी से। ये अंत:स्पंदन जीवन की आन्तरिक वेदना के हैं। अपने अपने स्थान पर प्रसाद और महादेवी ने जीवन की स्नेह-तरल वर्त्तिका को हृदय की 'लौ' दी है। वर्तमान छायावाद की कविता में वेदना का आदिरूप है प्रसाद की कविता में, विकसित रूप है महादेवी की कविता में। प्रसाद की काव्यवेदना में मध्ययुग की एषणाओं के विफल ऐश्वर्य का उद्वेग है; महादेवी की काव्य-वेदना में युगों की रुद्धकण्ठ नारी की विगलित गरिमा। इसी लिए महादेवी की वेदनाएँ प्रसाद की वेदना से उज्वल हैं। नि:संदेह छायावाद में महादेवी मीरा के अभाव की पूर्ति हैं।

हमारे साहित्य में दो दशाब्दी (सन्' २० तक) द्विवेदी-युग के काव्य का प्राधान्य रहा, और सन्' ४० तक (दो दशाब्दी) छायावाद की कविता का। इसके बाद? कविता प्रगतिवाद की ओर जा रही है। यह खड़ीबोली के काव्य-साहित्य के तृतीय उत्थान का आरम्भ है।

———

कवि श्री सोहनलाल द्विवेदी हैं। इस क्षेत्र में उनकी भाषा (बाह्य अभिव्यक्ति) मँजी हुई है।

निरालाजी के कला-क्षेत्र से भी एक ओजस्वी किंतु सुगम्भीर नवयुवक प्रकाशमान है—रामविलास शर्मा। प्रगतिशील युग का जो प्रतिनिधित्व निराला से रिक्त था, वह निराला से भी अधिक प्राञ्जल होकर श्री रामविलास शर्मा के रूप में आ गया है।

यह खेद की बात है कि 'सरोज-स्मृति' जैसी कविता में स्वयं निरालाजी युग की वास्तविकता के मुक्तभोगी होते हुए भी युग के वीभत्स कार्टूनिस्ट-से हो गये हैं। 'बापू के प्रति' शीर्षक कविता ('बापू ! तुम मुर्गी खाते यदि') में उनका यह स्वरूप देखा जा सकता है, यद्यपि उनका अन्तःस्वरूप सुसंस्कृत है। उनकी कवि-आत्मा युग के दयनीय चित्रों के प्रति निर्म्मम नहीं रह सकी है। 'दीन', 'भिक्षुक', 'विधवा', 'तोड़ती पत्थर' इत्यादि इस कोटि की रचनाओं में उनका कवि समाज के उपेक्षित अंगों का सहज सफल चित्र दे सका है। उनके ये चित्र रूढ़ जीवन के करुण शिल्प हैं। हाँ, निराला की यह चित्रकला युग को नहीं, बल्कि युग के खण्ड-चित्रों को दे रही है, जब कि पन्त ने 'ग्राम्या' में खंडचित्रों और युग के अखंड स्वर, दोनों ही को दिया है। उन बिखरे खंडचित्रों के भीतर निरालाजी युग-सत्य को नहीं देख रहे हैं। एक ओर वे गांधीवाद के नेतृत्व से सन्तुष्ट नहीं हैं दूसरी ओर 'वनवेला' में समाजवाद के नेतृत्व से भी। निरालाजी को ऐसा लगता है कि

ये नेतृत्व उनके जैसे व्यक्तियों की अवहेलना करते हैं। निरालाजी अपनी धारणा के लिए स्वतंत्र हैं।

हम देखते हैं कि निराला युगातीत व्यक्ति हैं। करुणाविदग्ध होकर भी निराला का कवि युग का कलाकार नहीं हो सका, जिसकी सबसे अधिक आशा छायावाद के सीनियर कवियों में उसी के पौरुष से की जा सकती थी।

छायावाद की कविता में गीतिकाव्य को निरालाजी ने भी अपनी देन दी है। गीतों को नये-नये स्वर देने में उनकी कलाकारिता व्यक्त हुई है। उनके स्वर और चित्र, दोनों दुरारूढ़ हैं।

निरालाजी के गीतिकाव्य ने भी कुछ युवक कवियों को प्रेरणा दी है, यथा, सर्वश्री कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह, जानकीवल्लभ शास्त्री, सत्याचरण 'सत्य', दयानन्द गुप्त। माखनलालजी की काव्य-प्रेरणा से उस स्कूल के जो सीनियर कवि आये थे उनके बाद मुख्यत: सी० पी० से कई जूनियर गीत-कवि भी आये, जिनमें सर्वश्री विनयमोहन शर्मा, शाखाल, नर्मदाप्रसाद खरे, राजेश्वर गुरु, प्रभागचंद्र शर्मा, ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी, प्रभाकर माचवे और वीरेन्द्रकुमार उल्लेखनीय हैं। महादेवी के गीतिकाव्य से प्रेरित सर्वश्री बच्चन, नरेन्द्र और सुमन के अतिरिक्त श्री गुलाब नये कवि हैं। अन्य उदीयमान कवियों में सर्वश्री भगवती-प्रसाद चन्दोला, पद्मकांत मालवीय, गंगाप्रसाद पांडेय, चन्द्रप्रकाश वर्मा, भगवतीप्रसाद सकलानी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भारतभूषण अग्र-

वाल, चिरंजीलाल 'एकाकी'; करुणाकुमार, श्यामविहारी शुक्ल 'तरल' गिरिजाकुमार माथुर, सर्वदानन्द; राजेन्द्र, सुरेन्द्र, अर्जुन, रसिक, मोती, अमर इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इनमें से एक श्री चंदोलाजी ने अपने छोटे-छोटे गीतों में सूफी रहस्यवादकी अच्छी झलक दी।

अन्य जूनियर कवि भी अपेक्षाकृत नववयस्क होने पर भी ओसों की तरह प्रिय उज्ज्वल व्यक्तित्व लिए झलक रहे हैं।

इस समय नवागत जूनियर कवियों की काव्यस्थिति यह है कि कुछ तो केवल सबजेक्टिव कवि हैं और कुछ बच्चन की तरह 'आकुल अन्तर' और 'विकल विश्व' दोनों को देख रहे हैं। किंतु नये कवि मुख्यत: प्रगतिशील ही होते जा रहे हैं।

[३]

पिछले महायुद्ध (सन् १९१४-१८) के बाद से हमारे साहित्य में छायावाद का विकास होता है। सच तो यह है कि रण-परिश्रांत विश्व ने युद्ध के बाद छायावाद में ही विश्राम लिया। जिस साम्राज्यवादी वस्तुजगत् के अभावों से हम पीड़ित थे उसीके भावजगत् में हमने अपने को भुलाने का प्रयत्न किया था। फिर भी उस विस्मृति से शांति नहीं मिली, क्योंकि छायावाद की आध्यात्मिकता में उन रईसों की-सी आस्तिकता थी जिन्होंने जीवन की निधियों को अपनेमें ही केन्द्रित कर लिया था, कितनों को रिक्त कर

साधारण जनता तो चिरदुखिया है ही, फलतः वह अपने रिक्त अभावों को राजनीतिक क्रांति से भराव देने को उत्सुक है। हम उसे दोष नहीं देंगे, उसे भूखे-प्यासे जीवन को भक्ति में नहीं भुलायेंगे। सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि ने जो निष्कलुष भक्ति हमारे जीवन को दी है, हम चाहते हैं कि सम्पन्न वर्ग उसे सचाई से अपनावे, जनता तो उसे सचाई से अपनाये हुये है ही, उसी के कारण आज भी भक्ति-साहित्य अमृत बना हुआ है। वास्तविकता तो यह है कि अपने अभावों में जनता अशांत है और अपनी पाशविक लिप्साओं में सम्पन्न वर्ग लोभाक्रांत। सम्पन्न वर्ग जीवन के प्रति दुहरी प्रवञ्चना कर रहा है—एक ओर शोषण द्वारा जनता को, दूसरी ओर मिथ्याभक्ति-द्वारा अपनी आत्मा को ठग रहा है।

महायुद्ध की विभीषिका से विरक्ति होने पर विश्व को स्थूल पार्थिवता से उपराम हो गया था, उपचार के लिए वह सूक्ष्म आत्म-चेतनाओं या आंतरिक भूख-प्यास की ओर उन्मुख हुआ था। तदनुरूप साहित्य ही उस समय से सन् '२० के बाद तक फलता-फूलता गया, बीच में ही मुरझा नहीं गया। विज्ञान की विकरालता ने काव्य का अनुराग जगा दिया था। छायावाद विषम लौकिक परिस्थितियों में एक मानसिक उपचार बना, संघर्षपूर्ण गृहस्थी में आस्तिकता की भाँति। ऐसे ही समय में मानो छायावाद के व्यावहारिक वेदांत के रूप में गांधीवाद का भी प्रसार हुआ।

यहाँ तक संसार मध्ययुग के उन्हीं विश्वासों में चल रहा था जिनके अनुसार संसार का दुःख दूर करनेवाला एकमात्र शक्तिमान परमात्मा है, मनुष्य स्वयं असमर्थ है। इस असमर्थ मानव-समाज को भक्ति एवं अध्यात्म की बातें और भी अच्छी लगने लगीं। यह एक आश्चर्य की बात है कि युद्ध एवं विध्वंस की योजना बनाने में मनुष्य अपने को पूर्ण समर्थ पाता है, किंतु अपने ही द्वारा उत्पन्न किए हुए दुःख का परिहार करने में वह असमर्थ हो जाता है और इसका सब भार ईश्वर पर छोड़ देता है। यह आस्तिकता की ओट में वास्तविकता की ओर से आँख चुराना है। जो आँख नहीं चुराना चाहते, वे निर्लज्जता-पूर्वक वास्तविकता को पाशविक बनाकर उपस्थित करते हैं। पीड़ित वर्ग को इन दोनों ही घातक मनोवृत्तियों से सजग होकर प्रगतिशील होना है।

असलियत तो यह है कि जिनके कारण युद्ध-विग्रह होते हैं वे स्वयं वास्तविकता का बोध नहीं होने देते, क्योंकि इस बोधोदय से उनका प्रभुत्व अन्धकार की भाँति तिरोहित हो सकता है। हम देखते हैं कि भक्ति एवं अध्यात्म की बातें करके भी संसार का दुःख दूर नहीं हुआ और आज विगत महायुद्ध से भी विकराल महायुद्ध चल रहा है, शत शत ज्वालामुखियों के विस्फोट से आकाश-पाताल दहल रहा है। युगों की इन विभीषिकाओं का अन्त कहाँ है?

मनुष्य की व्यक्तिगत आत्मशुद्धि के लिए परमात्मा का ध्यान मङ्गलदायक हो सकता है, किंतु सामूहिक प्रश्न को तो वह मानव-

समुदाय ही हल कर सकता है जिसने समाज की सामूहिक रचना की है। जरूरत तो यह है कि हम भगवद्भक्ति बनाये रखें, साथ ही विषम परिस्थितियों के बुनियादी कारणों की ओर भी ध्यान दें। इसके विपरीत हमने साहित्य के भावजगत् में अपने को उसी प्रकार भुला दिया जिस प्रकार कठिनाइयों से भयभीत होकर साधारणजन अपने को मादकता में विस्मृत कर देते हैं अथवा जीवन के असह्य हो जाने पर आत्महत्या कर लेते हैं। अब तक भावजगत् में हम आत्मविस्मृत भले ही रहे हों, किंतु अब हमें आत्महत्या नहीं करनी है।

तो, द्विवेदी-युग का साहित्य छायावाद और गान्धीवाद तक बेखटके बढ़ आया, क्योंकि इसमें उसकी मध्यकालीन परम्पराओं को नवीन प्रेरणा मिलती थी, ठेस नहीं लगती थी। किन्तु इसके बाद हमारे देश का ध्यान भी उन बुनियादी प्रश्नों की ओर जाने लगा है, जिनकी उद्भावना उन मनुष्यों द्वारा हुई थी जिन्होंने वाह्य विषम परिस्थितियों का निदान परमात्मा पर न छोड़ कर अपनी ही विवेकात्मा से ढूँढ़ा था। धर्म के बजाय उन्होंने अर्थ को साधन बनाया। पहिले हम निरे भावुक थे, अब हम बौद्धिक दृष्टिकोण से परिचित होने लगे। सम्पन्नवर्गीय राजनीति धर्म को नहीं, अर्थ को लेकर चली आ रही है। धर्म की ओट में हम राजनीतिक अर्थ-चक्र को भूले हुए थे और पुनः पुनः विफलमनोरथ होने पर और भी धर्मकातर होते जाते थे। आज हम जानते हैं कि यदि

संसार से ऊबकर हम गिरि-कन्दरा में भी चले जायँ तो वहाँ भी कन्द-मूल बिना पैसे के सुलभ नहीं होंगे, व्यावसायिक सभ्यता ने वन-वीथियों को भी अपने नियन्त्रण में ले लिया है। जिस राष्ट्र के पास सबसे अधिक धन है आज वही आर्थिक संसार का शासक है। इस प्रकार हमारे जटाजूट और चोटियाँ अन्तर्राष्ट्रीय राज-नीति की शाखाओं से बँधी हुई हैं। जो केवल हवा-पानी पीकर जीने के अभ्यासी (योगी) हैं, वे भी सुरक्षित नहीं हैं, वायुयान और जलयान अपने आग्नेयास्त्रों से कोसों को दूरी से भी उनकी शान्ति को भङ्ग करने को प्रस्तुत हैं।

हम भरतखण्ड की आध्यात्मिक प्रजा हैं, राजनीति हमारा ध्येय नहीं। हम जानते हैं कि आत्मा का स्वास्थ्य परमात्मा से ही मिल सकता है—

'मीरा की तब पीर मिटैगी बैद सँवलिया होय।'

साथ ही हम यह भी नहीं भूलेंगे कि शारीरिक स्वास्थ्य (सामा-जिक जीवन) हमें समाज-विज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है। विषस्य विषमौषधम् के अनुसार आज के राजनीति-पीड़ित सामाजिक जीवन का स्वास्थ्य समाजवाद के अर्थोपचार में है। फलत: हमारे जीवन और साहित्य का स्वर एक नई दुनिया में बोलने लगा है।

[४]

अन्यत्र एक लेख में संकेत किया जा चुका है कि विदेशी सभ्यता के सम्पर्क से हमारे भावप्रधान जीवन में एक रियलिज्म

का भी प्रवेश होने लगा। यह रियलिज्म भारतेन्दु-युग के गद्य में अपने प्रारम्भिक रूप में प्रकट हुआ, सामाजिक और राष्ट्रीय त्रुटियों के सामयिक निदर्शन में। जीवन का यह रियलिज्म गद्य-प्रधान था, अतएव कविता में भी गद्य होकर आया। उधर हमारा पुरातन भावप्रधान जीवन वास्तविकता के सम्पर्क में भी जीवित रहा। आधुनिक काल में उसने किसी नये संसार के भावजगत् को नहीं,बल्कि पुरातन भावजगत् को ही नई अभिव्यक्ति और नई कल्पनाशीलता दे दी। काव्य में इसे ही हम रोमैंटिक क्लासिसिज्म या क्लासिकल रोमांटिसिज्म कह सकते हैं। वही भाव-जगत् अपना विकास करते हुए छायावाद की कविता में परिणत हो गया। उधर भारतेन्दु-युग से हमारे जीवन में जिस रियलिज्म ने प्रवेश किया था उसका भी देश-काल के साथ विकास होता गया और आज वह सोशलिज्म के रूप में है।

भारतेन्तु-युग और द्विवेदी-युग में 'वाद' नहीं, विवाद था—भाषा-सम्बन्धी। वह विवाद अपने समय का विशुद्ध साहित्यिक प्रसङ्ग था। आज की तरह राजनीति का स्पर्श उसमें नहीं हो पाया था, क्योंकि वर्तमान राजनीति तब इतने स्पष्ट रूप में हमारे सामने नहीं आ पाई थी। किन्तु राजनीति भारतेन्दु-युग से ही हिन्दी-उर्दू के विवाद के रूप में राष्ट्रीय वैषम्य को अंकुरित कर रही थी, वह उसी समय से साहित्य में भी भाषा के नाम पर घरेलू फूट डाल रही थी। और आज स्पष्ट रूप से हिन्दी-हिन्दुस्तानी के

नाम पर वह भाषा-सम्बन्धी विवाद एक राजनीतिक उन्माद बन गया है। वह घरेलू फूट इस प्रकार फूटेगी, उस समय के राजनीतिक कुहरे में इसका किसी को ध्यान नहीं था। फूट की विशेषता ही यह है कि अन्धकार जितना ही घनीभूत रहता है उतना ही वह लुकी-छिपी रहती है और जागृति का प्रकाश जितना ही फैलता जाता है उसका भक्षण करने के दुस्साहस में उतना ही वह भी फैलती-फूलती है। आखिर कब तक ?

उस समय देश की राजनीति लिबरलों के हाथ म थी, अतएव उसे बाहर फूट पड़ने की जल्दी नहीं थी। द्विवेदी-युग तक लिबरल राजनीति का प्राधान्य था। द्विवेदी-युग स्वयं भी लिबरल था। किन्तु उसने बजाय राजनीतिक दृष्टि से भाषा-सम्बन्धी विवाद छेड़ने के, साहित्यिक दृष्टि से अपनी भाषा का निर्माण कर लेने का यत्न किया। उसने भाषा का व्याकरण बनाया। हाँ, वह राजनीति की ओर भी उन्मुख था। राजनीति में वह गान्धी की गति के साथ चल रहा था, इसी लिए अन्त में द्विवेदी-युग के साहित्य ने गान्धीवाद में ही अपनी परिणति ले ली।

भारतेन्दु-युग भी लिबरल था, किन्तु एक विवश लिबरल। उसकी सामयिक प्रवृत्तियाँ अपने समय से आगे थीं, किन्तु वे देश-काल की बन्दिशों से बन्दी थीं। मध्ययुग का रईसी बानक दूर फेंक कर यदि भारतेन्दु केवल आत्मबल से उठ खड़े होते तो हम स्पष्टतः उन्हें उसी समय साहित्यिक 'तिलक' के रूप में पाते।

अस्तु ।

भाषा-सम्बन्धी विवादों के बाद हमारे साहित्य में कला और जीवन-सम्बन्धी 'वाद' आये । द्विवेदी-युग के बाद हम साहित्यिक 'वादों' से परिचित होते गये । हमारे साहित्य में ज्यों ज्यों मध्ययुग का प्रभाव कम होता गया, त्यों त्यों अनेक 'वाद' (जीवन की दिशाएँ) फैलते गये। 'वाद' हमारे जीवन में पहिले भी थे किन्तु वे विविध आध्यात्मिक चिन्तनों (मतों) के रूप में थे। आज वे सभी 'वाद' सारभूत होकर छायावाद और गान्धीवाद का नाम-रूप पा गये हैं। इनके अतिरिक्त, नये 'वाद' पश्चिम के साथ हमारे भौतिक सम्पर्क के परिचायक हैं। वे हमारे पिछले युगों के लिए कसौटी होकर आये हैं, जैसे आदर्शवाद के लिये यथार्थवाद । हमारे विगत युगों के सारवाही प्रतिनिधि छायावाद और गान्धीवाद हैं, अतएव नये 'वाद' मानो इन्हीं के समीक्षक हैं ।

जैसा कि ऊपर कहा है, सोशलिज्म रियलिज्म का आधुनिकतम विकास है। वही हमारे देश में गान्धीवाद के साथ एक विवाद बन गया है ।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में रियलिज्म ने गद्य पर अपना प्रभाव छोड़ा था, अब अपने इस विकास-कालमें वह काव्य पर भी प्रभाव छोड़ रहा है । किन्तु जीवन क्या गद्य-प्रधान ही हो जायगा ? काव्य क्या केवल स्वप्न हो जायगा ?

[५]

द्विवेदी-युग तक आकर मध्ययुग ने खड़ीबोली (आधुनिकता) का व्यक्तित्व ग्रहण किया था। उस मध्ययुग का दैनिक जीवन नई सदी के परिचय में तो आ गया था, किन्तु उसका मानसिक संसार अपने पुराने व्यक्तित्व में ही केन्द्रीभूत था। छायावाद ने उसे जरा रोमैंटिक बना दिया।

द्विवेदी-युग के बाद वर्त्तमान छायावादका उत्कर्ष ही उस मध्ययुग के स्वप्निल जीवन का पूर्ण विकास है। द्विवेदी-युग ने मध्ययुग को नया दिन दिया था, छायावाद ने नई रात दे दी। इस प्रकार मध्ययुग के रात-दिन अपनी चरमावधि पर पहुँचकर अब अतीत हो रहे हैं। जिस प्रकार आधुनिक रंगमंच पर कोई मध्यकालीन रूपक नवीन छाया-प्रकाश से उद्भासित होकर यवनिका के भीतर अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार मध्ययुग का जीवन हमारे यहाँ द्विवेदी-युग और छायावाद-युग की अभिव्यक्तियों से प्रकाशित होकर अब अदृश्य हो रहा है। आज भी साहित्य में उसका जो रूप रंग और ध्वनि शेष हैं, वह उसकी क्षीण स्मृति मात्र है।

छायावाद के साथ १९ वीं सदी (परिवर्द्धित मध्यकाल) का अन्त हो रहा है। इसके बाद बीसवीं सदी का प्रारम्भ अब हो रहा है, इस प्रगतिशील युग से। पृथ्वी की एक पूर्ण परिक्रमा (अब तक की सम्पूर्ण ऐतिहासिक गति-विधि) के रात्रि-दिवस समाप्तप्राय हैं और अब नई परिक्रमा के रात्रि-दिवस प्रारम्भ हो रहे

हैं। राजनीति की भाषा में कहा जा सकता है कि छायावाद के बाद अब समाजवाद का युग आ रहा है। कालांतर से इस नये युग का भी दैनिक और स्वप्निल जीवन बनेगा ही।

भारतेंदु और द्विवेदी-युग में आधुनिक काल का प्रारम्भिक रियलिज्म तो आ गया था, किंतु ऊपर के संकेतानुसार उसका काव्यात्मक आइडियलिज्म मध्यकाल (भक्तिकाल) का था। वह जीवन की वास्तविकता (रियलिज्म) के समाधान में भी पुरानी समाज-व्यवस्था को ही सामयिक सुधारों से संरक्षित कर रहा था। किन्तु सोशलिस्टिक रियलिज्म ने क्रान्ति (आमूल परिवर्त्तन)को ही अपना लोकसाधन बनाया है। क्रान्ति अभी अपने जागरण-काल (प्रारम्भिक रूप) में है। आज का क्रान्तिमुख साहित्य अब तक के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी दिशाओं में वैज्ञानिक दृष्टिकोण जाग्रत् कर रहा है; यों कहें, पूँजीवादी आडम्बर को हटाकर हमारे जीवन और साहित्य को स्पष्ट रूप में उपस्थित कर रहा है। सूर, तुलसी, मीरा, तथा गोखले, तिलक, गान्धी और रवीन्द्र के बजाय हमारे साहित्य में डार्विन, फ्रायड और मार्क्स आ रहे हैं। पिछले संसार की भाँति जब इस नवीन वैज्ञानिक जगत् में भी कला के प्रतिनिधियों का उदय होगा, तब इस वैज्ञानिकविश्व में भी काव्य का रस-सञ्चार होगा। मध्ययुग के भक्तिकाव्य के बाद जैसे छायावाद रोमैन्टिक होकर आया, वैसे समाजवाद में आज का छायावाद फिर नवीन रोमान्टिसिज्म ग्रहण करेगा।

मानसिक विकास की सतह के अनुसार, सदा की भाँति, इसका ग्राम्य और नागरिक रूप भी बना रहेगा। हम समझें कि जीवन और साहित्य में हम मर नहीं रहे हैं, बल्कि पुनर्विकास ग्रहण कर रहे हैं।

हाँ, क्रांतिमुख (प्रगतिशील) साहित्य अभी वास्तविकता-प्रधान है, वह अभी आइडियलिज्म को नहीं चाह सका है। उसे अभी भावी युग के आइडियलिज्म को समझना-परखना है। पहिले कहा जा चुका है कि प्रगतिशील साहित्य में पन्तजी ही कुछ कुछ आइडियलिज्म का भी आभास देते हैं। भविष्य के चित्र-फलक पर वे एक नूतन मनोहर सुसंस्कृत समाज का स्वप्न आँक रहे हैं। 'ज्योत्स्ना' में उस स्वप्न की एक झलक है।

हमारे क्रांतिमुख साहित्य का अभी आरम्भ-काल है। समाज में जब यह एक मूर्त्त रूप पा जायगा, तब भविष्य के वैज्ञानिक जगत् में भी एक नवीन रोमांटिसिज्म प्रकट होगा। अभी तो यह युग राजनीतिक संक्रांति का है। फलतः हमारा प्रगति-शील साहित्य गद्य-प्रधान है, काव्य में भी वह गद्य होकर आया है। वास्तविकता की ओर उन्मुख साहित्य गद्य-प्रधान होता ही है। इस गद्य-युग में भी छायावाद और गांधीवाद का अस्तित्व है, रेगिस्तान में ओसिस की तरह। युग पहिले गद्य बनाता है फिर काव्य और जब तक नया काव्य नहीं बनता, तब तक समाज के भावप्रवण प्राणी पिछले काव्य से ही अपनी रसतृष्णा शांत

करते हैं—चाहे वह निर्मल निर्झर हो, चाहे पंकिल सरोवर। भविष्य के वैज्ञानिक समाज में भी जीवन के भीतर कवित्व को स्थान मिलेगा। आज छायावाद और गांधीवाद जीवन के अग्निपथ में कोमल वनस्पतियों की तरह झुलसते हुए भी वैज्ञानिक मस्तिष्कों को हृदय की हरीतिमा का निमन्त्रण दिए जा रहे हैं।

सन्' १४-१७ के महायुद्ध के बाद संसार में शांति और क्रांति दोनों ही आई थीं। शांति किसी नवीन राजनीतिक परिवर्तन के रूप में नहीं, बल्कि रण-परिश्रांत विश्व की क्षणिक विश्रांति में। किंतु क्रांति एक नवीन राजनीतिक परिवर्त्तन की ओर अग्रसर हुई थी। यों कहें, एक ओर पुराने राजनीतिज्ञ अपनी थकान मिटा रहे थे, दूसरी ओर सदियों का शोषित वर्ग आत्मोद्धार के लिए सजग हो गया था।

आज फिर महायुद्ध चल रहा है, विगत महायुद्ध का क्षणिक विश्राम नूतन भैरव-गर्जन से भङ्ग हो गया है। पुराने राजनीतिज्ञों के नये वंशजों ने ही उन्हें इस प्रकार आक्रांत कर रखा है जिस प्रकार किसी वृद्ध सम्पत्तिशाली को उसका उद्धत उत्तराधिकारी। इस महायुद्ध को भी क्रांति बड़ी सजगता से देख रही है और अपना मार्ग ढूँढ़ रही है।

छायावाद में सन्' १४ के महायुद्ध के बाद की शांति है, समाजवाद में उस महायुद्ध के नेपथ्य में अवतीर्ण क्रांति। किंतु क्या

प्रगतिशील साहित्य 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' ही रह जायगा? अरे, जड़-जगत् भी पत्रों-पुष्पों में अपना भाव-विकास करता है, फिर मनुष्य तो जड़ नहीं, चेतन है; चाहे वह किसी भी युग में हो। 'नटनागर कवि की कल्याणी' कविता युग-युग चिरञ्जीव रहेगी।

कथा-साहित्य का जीवन-पृष्ठ

[१]

हमारे पुराकालीन जीवन में व्यक्ति के मनोविकास के क्रम ये हैं—जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। ये मनुष्य की आध्यात्मिक अवस्थाएँ हैं। हमारे यहाँ व्यक्ति-पूजा इसी विकास की परम कोटि की सूचक है। यहाँ मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं, विकास-शील जीव है। व्यक्ति-पूजा जीव के जीवन-विकास की पूजा है। किन्तु यह आध्यात्मिक पूजा जब केवल रूढ़िमात्र रह गई, मंदिर की मूर्ति की भाँति ही जड़ हो गई एवं व्यक्ति-पूजा के रूप में व्यक्तिगत प्रभुत्ववाद को हम मस्तक झुकाने लगे, तब हमारे जीवन का दृष्टिकोण बदल गया: हम जड़वस्तुओं के मूल्य पर जीवन को आँकने लगे। इसी लिए राजा जो कभी अपनी साधनाओं में ईश्वर का प्रतिनिधि था, वह रह गया केवल शासक मात्र। फलतः जहाँ पहले आत्मवाद था वहाँ व्यक्ति-पूजा व्यक्तिवाद में, व्यक्तिवाद सम्पत्तिवाद (साम्राज्यवाद) में बदल गया। समग्र जीवन अर्थतान्त्रिक हो गया। इस भौतिक जीवन ने अपने दैनिक संघर्षों के भीतर से अपना भी विकास-क्रम प्रारम्भ किया। और आज की राजनीतिक अभिव्यक्ति की भाषा में उसके विकास की ये अवस्थाएँ हैं—जागरण, सुधार और क्रांति। इनके पूर्व की

अवस्था को हम सुषुप्ति कह लें, यह वह अवस्था है जहाँ आध्यात्मिक जीवन रूढ़ियों में विकृत प्रतीक रह गया है।

हमारा पूर्वकालीन साहित्य आध्यात्मिक विकास का साहित्य है। ऐतिहासिक संघर्षों में भी वह साहित्य सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि भक्तों के अमृतकण्ठों से निःसृत होता रहा, किन्तु रीतिकाल तक आते-आते मानों उस पूर्वकालीन साहित्य के लिए वातावरण ही नहीं रह गया था। रीतिकाल उस भौतिक जीवन के ऐश्वर्य का चटकीला रूप है जो आध्यात्मिक जीवन को रूढ़ियों में निबाह रहा था। जैसे एक ओर आध्यात्मिक जीवन रूढ़िग्रस्त हो गया वैसे दूसरी ओर रीतिकाल तक पहुँचकर भौतिक जीवन भी कोढ़ग्रस्त हो गया। और जब तक व्यक्तिवाद और साम्राज्यवाद के परिणाम-स्वरूप हमारे दैनिक जीवन में दुर्गन्ध नहीं आने लगी तब तक हम आध्यात्मिक रूढ़ियों की भाँति ही भौतिक रूढ़ियों (सामाजिक रुग्णताओं) से भी चिपटे हुए थे। इसके बाद जब से हमारी आँखें खुली हैं तभी से हमारे जीवन और साहित्य का जागरण-काल प्रारम्भ होता है। हमारे जीवन पर आध्यात्मिक और भौतिक रूढ़ियों के जो छद्मावरण पड़े हुए थे उन्हें हटाकर मानों हम समाज-रचना के मूल कारणों के परिचय में आने लगे। यहाँ यह स्वीकार कर लेना होगा कि यह जागृति समुद्र पार के संसार से आई। एक दिन जिस प्रकार मध्ययुग का अभारतीय समाज हमारे यहाँ अपना भौतिक जीवन लेकर आया था, उसी प्रकार आधुनिक

युग का अभारतीय समाज उस जीवन के परिणाम भी ले आया—पराधीनता, दरिद्रता, बेकारी और शोषण। इन परिणामों को देखने-समझने की सुमति हममें जरा देर से आई, जब दूसरे देश जग कर नये पथ पर अग्रसर हो चुके, तब उनकी देखा-देखी हम भी जगकर उठ बैठे। आध्यात्मिक जीवन में हम संसार में सबसे पहले जगे थे, किन्तु भौतिक जीवन में बहुत बाद जगे; कारण, हमारा जीवन बाहर के जीवनकी प्रेरणा मात्र रह गया था।

[२]

रीतिकाल के बाद प्रारम्भिक आधुनिक काल हमारा जागरण-काल है। हमारे साहित्य में यह है भारतेन्दु-युग। भारतेन्दु-युग यद्यपि जागरण-काल है तथापि वह जागरण मध्ययुग को पार कर आते हुए आधुनिक युग के शिशुदृगों का जागरण है। हमारे जीवन में जितना ही घटाटोप अन्धकार था उतना ही इस जागरण-काल की अवधि विस्तृत होती गई है, अधिकाधिक प्रकाश पाने के लिए। यहाँ तक कि हम आज भी जागरण-काल में हैं। जब हम सामाजिक और राजनीतिक वास्तविकताओं से पूर्ण अवगत हो जायँगे तब हमारी जागृति भी पूर्ण हो जायगी, हमारे दृगों में जागृति की प्रौढ़ता आ जायगी।

प्रारम्भिक जागरण में हमने अपने सामने पिछले युगों का ही संसार पाया था, किसी नये युग का नया संसार नहीं। फलतः पिछले युगों की जो त्रुटियाँ हमें उन्नति में बाधक जान पड़ीं, हमने

उन्हें ही दूर करने की आवाज़ उठाई। एक शब्द में हम सुधार की ओर बढ़े। हमारे जीवन में जागृति और सुधार, ये दोनों प्रयत्न साथ-साथ चले। हाँ, शुरू में सुधार की गति मन्द और संकुचित थी, किन्तु ज्यों-ज्यों हममें जागृति तीव्र होती गई, त्यों-त्यों सुधार की ओर हमारे प्रयत्न भी अधिकाधिक क्रियाशील होते गये। हमारे साहित्य में भारतेन्दु और द्विवेदी-युग से लेकर गांधी-युग तक जागृति और सुधार का यह प्रयत्न चला। अंतर यह कि शुरू में जो जागृति और सुधार एकजातीय सामाजिक घेरे में था, वह गांधी-युग में अखिल भारतीय जीवन में विशाल हो गया। यहीं आकर हमने यह भी देखा कि हमारे सामाजिक सुधार भी राजनीतिक सूत्र में साम्प्रदायिक हो गये हैं। पहले इस वास्तविकता से अनजान रह कर ही हम सुधार के क्षेत्र में प्रयत्नशील थे और एक तमस-मूढ़ सामाजिक प्रतिद्वन्द्विता में लगे हुए थे। हमारे सामने हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन, ईसाई और पारसी थे; भारतवर्ष नहीं। निःसन्देह गांधीयुग ने ही हमारे सामाजिक प्रश्नों को अखिल देश के जीवन-मरण के रूप में उपस्थित किया। उसी ने हमें अपनी समग्रता का बोध दिया। गांधी-युग में हम पूर्ण स्वाधीनता की माँग तक पहुँचे। किंतु जिस प्रकार गांधी-युग के पूर्व के सुधारक-युगों में हम एक अविकच सार्वजनिक स्थिति में थे, उसी प्रकार आज हम गांधी-युग के आगे के युग (प्रगतिशील युग) की शिशु-स्थिति में भी आ गये हैं। आज

हम सुधारों की सीमा पार कर क्रांति की ओर भी जाने के लिए अधीर हैं ।

यहीं रुककर जरा हम अपने साहित्य की भी गति-विधि देख लें । कहा जा चुका है कि जब हम जगे तो पिछले युगों का संसार ही हमारे सामने था; प्रगतिशील युग का प्रगतिशील संसार नहीं । अतएव उत्तराधिकार में हमें पिछले संसार की ही सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियाँ प्राप्त थीं ।

* * *

रामायण, महाभारत और भक्ति के भजन हमारे पूर्वकालीन आध्यात्मिक जीवन के साहित्यिक चिह्न हैं । ज्यों ज्यों परवर्त्ती जीवन का प्रसार होता गया,त्यों त्यों इस प्रकार के साहित्य का ह्रास होता गया । हम देख सकते हैं कि रीतिकाल परवर्त्ती जीवन का चरम उत्थान है और वही उसका पतन भी । वह सान्ध्यसूर्य का अन्तिम उत्थान-पतन है । परवर्त्ती जीवन के पतन में ही आधुनिक जीवनका प्रारंभ होता है । रीतिकाल तक हम जीवन की वास्तविकताओं को व्यवाहारिक जीवन में ही झेलते आ रहे थे, किन्तु विश्राम हम पूर्वकालीन जीवन से प्रेरित भाव-काव्य में ही ग्रहण करते रहे । अवाञ्छित वातावरण में रीतिकाल का काव्य पूर्वकालीन जीवन के अनुरूप स्वच्छ नहीं रह सका । आधुनिक काल के प्रारम्भ में जब हम अपने जीवन की कुरूपताओं की पहचान में आने लगे तब भी हमारे मानसिक विश्राम का

केन्द्र-बिन्दु रीतिकालीन भाव-प्रवणता ही थी। भक्ति-साहित्य हमारा भजन-पूजन बना हुआ था, शृङ्गार-साहित्य हमारा मानो-विनोद। हम नये शासन के आघातों से बरबस जग तो रहे थे किन्तु हमारा आन्तरिक झुकाव मध्यकाल के जीवन और साहित्य की ओर ही था। वह हमारा सदियों का संस्कार था। समय के अनुसार हमारा बाह्य वेश-विन्यास बदलता गया, किन्तु हमारा मूल-संस्कार आज तक निर्मूल नहीं हुआ है। व्यावहारिक जीवन में हम ऐतिहासिक वास्तविकताओं को झेलते चले जा रहे हैं किन्तु मानसिक जीवन में हम आज भी मध्यकाल के रोमांस में हैं। आज अभाव-जगत् में हम विंश शताब्दी में हैं, किन्तु भाव-जगत् में मध्यकाल में।

लेकिन आधुनिक काल ने भी हमें कुछ दिया है, वह है गद्य-साहित्य, जिसका विकास है कथा-साहित्य। पिछले युगों में हम वास्तविकताओं को झेलते थे और भावों का उपभोग करते थे। और आज, हम पिछले जीवन से सञ्चालित भावों का काव्य में उपभोग तो करते हैं, किन्तु साथ ही कथा-साहित्य में जीवन की वास्तविकताओं का सुख-दुःख भी देने लगे हैं, दैनिक जीवन को भी प्रकाशित करने लगे हैं; यद्यपि आज के कथा-साहित्य में भी प्रधानता काव्य के विगत रोमांस को ही मिली है। पिछले युगों में काव्य ने कथा में, कथा ने काव्य में जैसा स्थान बना रखा था, वह स्थान आज भी सर्वथा रिक्त नहीं हुआ है। यह नहीं कि

वह रोमांस उस सम्पन्न वर्ग की उपज है जो दूसरों की अतृप्तियों में ही अपनी तृप्ति का संसार बसाता आया है। वह शोषितों के रक्तमांस से निर्मित रोमांस है। वह मांसाहारी रोमांस है। अपने अज्ञान में साधारण जनता भी उसी को हसरत की निगाह से देखती आई है।

ऐतिहासिक क्रम से जीवन के जिन डिज़ाइनों का प्रभाव हम पर पड़ता गया, हमारा साहित्य भी उसी के अनुरूप बनता गया। मूलत: हमारा जीवन और साहित्य सम्पन्न वर्ग की कला के डिज़ाइनों में रूप-रंग ग्रहण करता रहा। सन्-संवत् बदलता गया किन्तु जीवन का राजकीय मानचित्र एक साम्राज्यशाही से दूसरी साम्राज्यशाही के हाथों जैसा का तैसा बना रहा। अंतर मुग़ल चित्रकला और यूरोपियन चित्रकला का पड़ता गया।

[३]

हमारे आधुनिक कथा साहित्य पर पहला प्रभाव उर्दू (मुस्लिम रोमांस) का पड़ा। भारतेंदु युग के सर्वश्री देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी उसी उर्दू रोमांससे प्रभावित उपन्यास-कार थे। इनसे पूर्व भी इन्शा अल्लाहखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' तथा साधारण जनता की 'बैताल पच्चीसी' और 'किस्सा तोतामैना' में वही उर्दू रसिकता चली आ रही थी। हमारे परवर्ती जीवनमें उसी रोमांसका रूप-रंग था। सर्वश्री सदल मिश्र, लल्लूलाल तथा मुंशी सदासुख ने धार्मिक कथाएँ भी दी थीं, बिल्वपत्र की

तरह। किन्तु भारतेंदु-युग के उक्त कलाकारद्वय ने हमारे प्रत्यक्ष जीवन की दुर्बलता को अँगूरी मादकता दे दी। इन उपन्यासकारों ने पृथ्वी पर इंद्रलोक बसा दिया। अभी तक हमारे मानसिक विलास के लिए रीतिकाल की कविता थी और अब सर्वसाधारण को विलास का यह औपन्यासिक उपकरण भी मिल गया। इसे पाकर यौवन का रोमांस और भी मतवाला हो गया। आगे के साहित्य को इसी मतवालेपन से जनता को उबारना था। उसका कर्त्तव्य गुरुतर था, उसे अत्यन्त मूर्च्छित वातावरण में चेतना का संचार करना था। उन विगत उपन्यासों का स्थान तो कला के म्यूज़ियम में ही हो सकता है, जीवन के गृह-प्रांगण में नहीं।

हमारे कथा-साहित्य पर दूसरा प्रभाव बँगला का पड़ा। एक तरह से उर्दू और बँगला का सम्मिलित प्रभाव भारतेंदु-युग से ही पड़ने लगा था। हाँ, देवकीनन्दन खत्री केवल उर्दू से प्रभावित थे तो गोस्वामीजी बँगला से भी। उन्होंने बंकिम के एकाध उपन्यासोंका अनुवाद भी किया। फिर भी उनका रुख़ सस्ते रोमांस की ओर था।

कथा-साहित्य को उर्दू से मिली मूर्च्छना का प्रारम्भिक उपचार बँगला ने ही किया। बँगला के साहचर्य्य से हमारे कथा-साहित्य को जीवन का दैनिक चित्रपट भी प्राप्त होने लगा। इसके दो पार्श्व थे—एक तो अतीतकालीन (सांस्कृतिक), दूसरा वर्तमान-कालीन (गार्हस्थिक)। स्वयं भारतेन्दुजी ने भी दोनों ही प्रकार का

कथा-साहित्य थोड़ा बहुत दिया, यद्यपि संस्कारतः रीतिकाल की रसिकता को वे जीवन में भूल नहीं सके।

बँगला का प्रभाव पहले अनुवादों के रूप में आया; भारतेन्दु-युग में कम, द्विवेदी-युग में अधिक। बँगला के निकट सम्पर्क से आधुनिक कथा-साहित्य की प्रारम्भिक रूपरेखा से परिचित हो जाने पर हमारे साहित्य में मौलिक कहानी-लेखकों का भी प्रादुर्भाव हुआ। पहले हम 'अलिफ-लैला' के देश में थे, बँगला के सम्पर्क से हम अपनी माँ-बहिनों, भाई-बन्धुओं के समाज में आये।

उर्दू और बँगला का प्रभाव केवल प्रारम्भिक प्रेरणा न रह कर हमारे कथा-साहित्य को कुछ प्रौढ़ विकास भी दे गया है। इस प्रौढ़ विकास के दो यशस्वी कलाकार हुए—प्रेमचन्द और प्रसाद। प्रेमचन्द की टकसाली भाषा उर्दू की देन है, प्रसाद की भाव-प्रवण शैली बँगला की देन।

हमारे कथा-साहित्य पर तीसरा प्रभाव अँगरेजी का पड़ा। यों कहें कि हमारे जीवन में जब अँगरेजी शासन ने अपना दृढ़ स्थान बना लिया तब हम अँगरेजी साहित्य के सम्पर्क में भी आये। और जैसा कि स्वाभाविक है, अपने से भिन्न प्रभाव को प्रारम्भ में हम अनुवादों द्वारा ग्रहण करते रहे, फिर उससे परिचित हो जाने पर मौलिक रचना भी करने लगे। यही हाल अँगरेजी के प्रभाव का भी हुआ। द्विवेदी-युग तक हमारी साहित्य

की आधुनिकता इतनी अपरिपक्व थी कि उस समय तक अँगरेजी के प्रौढ़ विकास को ग्रहण कर लेना हमारे लिए एक कठिन भोजन था। अतएव चाय और बिस्कुट की तरह कुछ हलके अँगरेजी उपन्यासों के अनुवाद करने में ही हम दत्तचित्त हुए। यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि हमारी मूल औपन्यासिक रुचि 'चन्द्रकान्ता' में निहित रही है, यह एक फैन्सी युग की जनता की रङ्गीन रुचि है। और जब तक जनता में परिपूर्ण जागृति (जीवन-निरीक्षण) नहीं आ जाती तब तक उसके सुषुप्त जीवन में विविध रूप-रङ्गों में इस प्रकार के औपन्यासिक स्वप्न-विलास को भी स्थान मिलता रहेगा। यद्यपि आज की जनता की रुचि खादी की स्वच्छ सादगी की ओर चली गई है, तथापि उसका मन रीतिकाल की रङ्गीनी में रँगा हुआ है। फलतः अँगरेजी के प्रथम सम्पर्क में भी हम उस समाज के चटकीले रोमांस और भड़कीले जासूसी उपन्यासों की ओर आकर्षित हुए, अनुवादों द्वारा।

हमारे कथा-साहित्य पर चौथा प्रभाव सामाजिक और राष्ट्रीय आन्दोलनों का पड़ा। सामाजिक आन्दोलनों में ब्राह्मसमाज ने बँगला में और आर्य्यसमाज ने हिन्दी में स्थान बनाया। जिस प्रकार हमारे यहाँ सनातनधर्म का आर्य्यसमाज के साथ द्वन्द्व चलता रहा, उसी प्रकार बङ्गाल में ब्राह्मसमाज के साथ। इस द्वन्द्व का पक्ष-विपक्ष वहाँ के कथा-साहित्य में भली भाँति देखा जा सकता है। वहाँ ब्राह्मसमाज के वरेण्य कलाकार रवीन्द्रनाथ

हैं तो सनातन समाज के अग्रगण्य कलाकार शरच्चंद्र। किन्तु हिन्दी के कथा-साहित्य में इस प्रकार का सामाजिक संघर्ष नहीं के बराबर है। स्थायी साहित्य की दृष्टि से प्रेमचन्द के 'सेवासदन' और 'प्रतिज्ञा' जैसे एकाध उपन्यास आर्य्यसमाजी चेतना के प्रतिनिधि हैं। हमारे कथा-साहित्य में आर्य्यसमाज को विशेष स्थान नहीं मिला। इसके कई कारण हैं। पहला कारण यह है कि हमारा हिन्दी-प्रान्त कट्टर रूढ़ियों का दुर्भेद्य दुर्ग है। अँगरेजी के प्रभाव में सर्वप्रथम आ जाने के कारण बंगाल के शिक्षित वर्ग की कट्टरता बहुत कुछ कम हो गई थी। यहाँ तक कि स्वयं शरद बाबू भी केवल धार्मिक पृष्ठ-पोषक न रहकर आधुनिक चरित्रकार भी हुए। किन्तु हिन्दी के साहित्यिक अधिकतर अपने परम्परागत समाज में अपनी कुलीनता बनाये रखकर ही अपने से भिन्न प्रभावों को ग्रहण करते हैं; 'राम झरोखे बैठ के सब का मुजरा लेयँ।'

दूसरा कारण यह कि कलागुरु रवीन्द्रनाथकी भाँति कोई प्रभावशाली राजपुरुष आर्य्यसमाज में कलाकार होकर नहीं आया।

तीसरा कारण यह कि ब्राह्मसमाज आर्य्यसमाज से सीनियर है, अतएव सनातनसमाज और ब्राह्मसमाज को द्वन्द्व का काफी अवसर मिला। किन्तु इधर जब सनातनसमाज और आर्य्यसमाज का द्वन्द्व अपने क्लाइमेक्स पर पहुँचने को था उसी समय सन्' १७ का यूरोपीय महायुद्ध छिड़ गया। उस महायुद्ध ने हमारा ध्यान

दूसरी ओर बँटा दिया। हम राजनीति में अधिकाधिक दिलचस्पी लेने लगे। सामाजिक आन्दोलनों के अतिरिक्त हममें राजनीतिक आन्दोलनों का भी उत्साह उमड़ने लगा।

वंग-भंग के माध्यम से स्वदेशी आन्दोलन और स्वराज्य की माँग के रूप में असहयोग-आन्दोलन, ये दोनों वर्तमान भारतीय कथा-साहित्य के विशेष उन्नायक हैं। हाँ, आर्यसमाज की भाँति स्वदेशी आन्दोलन का भी हिन्दी के कथा-साहित्य में कम स्थान है। स्वदेशी आन्दोलन बंगाल की उपज होने के कारण वह मुख्यतः बँगला के कथा-साहित्य में ही अधिक प्रकट हुआ। बंग-भंग के सिलसिले में ही क्रान्तिकारी पार्टी का भी जन्म हुआ। बँगला के कथा-साहित्य में उसने भी स्थान बनाया, रवि बाबू का 'घरे-बाहिरे' और शरद बाबू का 'पथेर दाबी' उसी के सूचक हैं। हिन्दी में एकाध अनुवाद और प्रेमचन्दजी की एकाध कहानियाँ उसके चिह्न हैं। असल में हमारे कथा-साहित्य में तो समय की गति के अनुसार प्रेमचन्दजी ही बढ़ते आ रहे थे, इसी कारण उनके साहित्य में आधुनिक काल की प्रत्येक गति-विधि का किसी न किसी सीमामें परिचय मिलता है—आर्यसमाज, स्वदेशी आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन। इसके बाद प्रगतिशील-युग में पहुँचते न पहुँचते उनका देहावसान हो गया। प्रेमचन्द जिस उर्दू की प्रेरणा लेकर हिन्दी में आये थे उस हिसाब से तो उन्हें दास्तानों की ही दुनिया में होना चाहिए था, किन्तु वे परिस्थितियों के अत्यन्त निम्नवर्ग

के भीतर से साहित्य में आये थे. इसी लिए जीवन के संघर्ष में निरन्तर गतिशील रहे, समय के पदचिह्नों पर अपनी साहित्यिक छाप छोड़ते गये।

प्रेमचन्द के समय तक असहयोग-आन्दोलन ही विशद रूप में आया था। असहयोग-आन्दोलन ने हमारे जीवन और साहित्य का कायापलट कर दिया। यह एकजातीय या एकप्रान्तीय आन्दोलन न होकर समग्र राष्ट्र के जीवन-मरण का आन्दोलन था। इस अखिलभारतीय आन्दोलन में हिन्दू,मुसलमाम, सिख, ईसाई. जैन, पारसी, आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज सबको अभिन्न होने का अवसर मिला। इसी आन्दोलन में राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा बढ़ी और अन्य भारतीय भाषाओं के लेखक भी हिन्दी में आये।

असहयोग-आन्दोलन के विशद प्रसार में हमारे छोटे-मोटे संकुचित द्वन्द्व इतने तुच्छ हो गये कि आज हमें वे उपहासास्पद लगते हैं, यद्यपि आज भी वर्तमान शासन-तन्त्र हमें उन्हीं द्वन्द्वों में उलझाये रखकर हमारे संगठन एवं एकता को अपनी राजनीति (पृथक्करण) से खंड-खंड कर देना चाहता है। राष्ट्र का अंग-भंग किये जाने के राजनीतिक प्रयत्नों को देखकर आज हम यह स्पष्ट रूप से जान गये हैं कि असहयोग-आन्दोलन के पूर्व के हमारे वे संकुचित द्वन्द्व वर्तमान शासनतन्त्र की निश्चिन्तता के साधन थे। आज वह निश्चिन्तता भी चिन्तित (सचेष्ट) हो उठी है।

असहयोग-आन्दोलन ने सबसे बड़ा काम यह किया कि उसने हमारी प्रवृत्तियों की दिशा बदल दी, गान्धीवाद के द्वारा हमारे जीवन और साहित्य में एक सुरुचि आई। यह युग मुमुक्षुओं का जागरण-काल (ब्राह्ममुहूर्त) है। भारतेंदु-युग से जो मुमूर्षु जीवन जाग्रत होता आया उसे गांधी-युग में प्रज्ञा का प्रकाश भी मिल गया। यों कहें कि मध्ययुग के आधिभौतिक जीवन ने जब राष्ट्रीय पुनर्जन्म लिया अथवा व्यक्तिगत से सार्वजनिक हो गया तब पुराकाल का आध्यात्मिक समष्टिवाद (गांधीवाद)उसके जीवन का सम्बल बना।

गांधी-युग के पूर्व हम साहित्य के भीतर से केवल कला की प्रेरणा लेते थे,अब साहित्य के भीतर से जीवन की भी प्रेरणा लेने लगे। पहले हम केवल ग्रन्थ खोलते थे, अब ग्रन्थि खोलने की दीक्षा लेने लगे।

असहयोग-आन्दोलन ने जैसे समाज के सभी वर्गों पर प्रभाव डाला, वैसे ही साहित्य के सभी अंगों पर भी। कथा-साहित्य में यदि प्रेमचन्द इस आंदोलन के प्रतिनिधि हुए तो काव्य-साहित्य में मैथिलीशरण।

इस आंदोलन द्वारा न केवल हम अपने देश से बल्कि संसार से भी परिचित हुए, फलतः हम विश्व-साहित्य की ओर भी प्रेरित हुए। जैसा कि पहिले कहा है, अँग्रेजी के प्रथम सम्पर्क में हमारी अपरिपक्व रुचि हलके उपन्यासों की ओर रुजू हुई थी, किन्तु

असहयोग–आंदोलन में परिपक्व होकर वह विश्व–साहित्य की गम्भीर प्रेरणाओं की ओर अग्रसर हुई। यहीं से हमारे कथा–साहित्य पर पाँचवाँ प्रभाव विश्व-साहित्यका पड़ता है। हमारे काव्य और कथा-साहित्य पर अँगरेजी का प्रभाव तो पड़ चुका था, अब अँगरेजी के माध्यम से हम फ्रेंच, जर्मन, रसियन और इटैलियन कथा–साहित्य के सम्पर्क में भी आये। अनुवादों द्वारा हिन्दी जनता बाहर के कलाकारों से भी परिचित हुई।

इस नवीन साहित्यिक सीमा से परिचित हो जाने पर हम मौलिक रचना के प्रयत्न में भी कुछ–कुछ संलग्न हुए।

[४]

यूरोप का मध्यकाल हमारे आधुनिक काल का प्रारम्भ है। १९वीं सदी में अँगरेजी शासन के सम्पर्क में हम वहाँ से चले जहाँ यूरोप कभी मध्ययुग में था। यूरोप का बाल्यकाल ही हमारा प्रथम जागरण बना। उसकी प्राचीनता ही हमारी आधुनिकता बनी। जागृति के उस बाल्यकाल में हमारे साहित्य का स्वर कुछ–कुछ बदला। जीवन को पहले हम सस्ते मनोरञ्जन में लेते थे, उसमें सम्पन्न वर्ग के वैभव–विलास का अवकाश था। किंतु यूरोप का सम्पन्न वर्ग अपने अविकास में भी वास्तविकता की उपेक्षा नहीं कर सका था, वह जीवन के निर्माण में एक वैज्ञानिक की तरह दृढ़ था। उसका यही जातीय स्वभाव उन सार्वजनिक चेतनाओं का कारण बना जिनके द्वारा वहाँ के जीवन और

साहित्य में अनेक 'वाद' बने, जब कि हमारे यहाँ रूढ़तः आदर्श-वाद और व्यवहारतः भोगवाद था। किंतु पश्चिम के सम्पर्क से हमारे जीवन में भी वास्तविकता का बोधोदय हुआ। हमारा प्रारम्भिक आधुनिककाल वही बोधोदय है। इस दिशा में हमारे देश का जो प्रतिनिधि सबसे आगे बढ़ा वह उतना ही पहले नवीन अभिव्यक्तियाँ दे सका। वर्तमान भारतीय साहित्य का अग्रगामी प्रतिनिधि है बंगाल। न केवल हिन्दी से, बल्कि अन्य प्रांतीय भाषाओं से बङ्गाल उतना ही आगे रहा, जितना बंगाल से यूरोप।

यूरोप की वैज्ञानिक चेतना के कारण वहाँ रूढ़ियों के बंधन हमसे पहले ही टूट गये, जब कि जीवन में वास्तविक शक्ति न होने के कारण हम कर्त्तव्य-भीरु बने रहे। हमारे जीवन में आज भी जितने अंश में सामाजिक और राजनीतिक बंधन बने हुए हैं अथवा आज की कंगाली में भी जितने अंश में हम वैभव-विलासी अकर्मण्य हैं उतने अंश में आज भी हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ सामन्तकालीन बनी हुई हैं।

फिर भी आज हम विविध साहित्यिक 'वादों' से परिचित हो चले हैं। मोटे तौर से साहित्य में दो ही 'वाद' गण्यमान्य हैं—आदर्शवाद और यथार्थवाद। अन्यान्य 'वाद' एक-एक जाति के अनेकानेक भेदोपभेद की भाँति हैं। मनुष्य की मानसिक और शारीरिक प्रवृत्तियों के विकास की सतह के अनुसार इन विविध 'वादों' के विविध नाम हैं। यथा, आइडियलिज़्म का नाम कभी

रहस्यवाद (या, अभी कल तक छायावाद) था तो आज उसका नाम गांधीवाद है, रियलिज़्म का नाम कभी रीतिवाद (शृङ्गार-काव्य) था तो आज उसका नाम मार्क्सवाद है। बीच में अपने-अपने विकास की सतहों में इनके और भी अनेक नाम पड़ चुके हैं किन्तु यहाँ हम इनके विकास की सद्यःपरिणतियों को ही आँक रहे हैं।

समय की माँग के अनुसार 'वादों' के आधार बदलते गये हैं। जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें देखने के दृष्टिकोण भी बदलते गये हैं। यों कहें कि 'वाद' नहीं बदले, बल्कि उनका रूपांतर होता गया है। आदर्शवाद जीवन की आवश्यकताओं को मूलतः मानसिक दृष्टि से देखता है, यथार्थवाद शारीरिक दृष्टि से। हमारे पिछले साहित्य में आदर्शवाद का उदाहरण है भक्ति-काव्य, यथार्थवादका उदाहरण है शृङ्गार-काव्य। आज के साहित्य में आदर्शवाद का उदाहरण है गांधीवाद, यथार्थ-वाद का उदाहरण है मार्क्सवाद। समय की माँग के अनुसार दोनों के आधारों में भी परिवर्त्तन हुआ है—भक्ति-काव्य भावमूलक था, गांधीवाद कर्ममूलक है; रीतिकाल काममूलक था, मार्क्सवाद अर्थमूलक है। तदनुरूप ही इन 'वादों' के कला-विन्यास में भी परिवर्त्तन हुआ है।

गांधीवाद और मार्क्सवाद—आदर्श और यथार्थ के मर्यादित दृष्टान्त हैं। इनके अमर्यादित दृष्टान्त भी देखे जा सकते

हैं। आदर्शवाद (गांधीवाद) के अमर्यादित दृष्टांत हैं वे लोग जिनपर कांग्रेस का अनुशासन-भङ्ग का नियम लागू करना पड़ा है। यथार्थवाद (मार्क्सवाद) के अमर्यादित दृष्टांत हैं वे लोग जो समाजवाद के चोले में फासिस्टों और नाजियों की-सी आत्म-लिप्सु महत्त्वाकांक्षाएँ छिपाये हुए हैं। वे उतने ही कुत्सित हैं जितना कि रामनामी ओढ़े हुए आत्मलोलुप धार्मिक। दोनों मनुष्य की खाल में छिपे हुए भेड़िये हैं।

जहाँ तक गांधीवाद और मार्क्सवाद का मौलिक मतभेद है, वहाँ समय के अनुसार हमें इन 'वादों' के समन्वय से नवजीवन की सृष्टि करनी होगी, इन 'वादों' को मानसिक और शारीरिक सत्यों का ऐक्य देना होगा। अतएव, भविष्य के साहित्य में हम आइडियलिज्म और रियलिज्म को अलग अलग नहीं देखेंगे, बल्कि इन दोनों को स्वीकार कर हम जीवन में आइडियलिस्टिक रियलिज्म अथवा रियलिस्टिक आइडियलिज्म की रचना करेंगे। यह वाद-विवाद का नहीं, सहयोग का निर्विवाद पथ है, जहाँ उदारतापूर्वक हम एक दूसरे को समझने का यत्न करेंगे। हिन्दी में इस प्रयत्न का आरम्भ हो गया है। पन्तजी रियलिस्टिक आइडियलिज्म की ओर उन्मुख हैं, ('ज्योत्स्ना' इसी का पूर्ण रूपक है); जैनेन्द्रजी आइडियलिस्टिक रियलिज्म की ओर उन्मुख हैं, गांधी और शरद को एक में मिलाकर; यद्यपि उनका रियलिज्म यदा-कदा बीभत्स हो जाता है। सियारामजी ने भी गांधी और शरद को

एक साथ ग्रहण करने का प्रयत्न किया है, किंतु दोनों के भीतर से उन्होंने केवल आइडियलिज़्म की ही प्रेरणा ली है। एक परम्परागत संसार के ही आस्तिक गृहस्थ होने के कारण जीवन में वे रियलिज़्म को देख ही नहीं पाते। वह उन्हें पसन्द नहीं है।

यहाँ हम एक और उदीयमान कहानीकार श्रीवीरेन्द्रकुमार जैन को स्मरण कर सकते हैं। वे उस नारी-हृदय के चित्रकार हैं जिसे रवीन्द्र ने अर्द्धसत्य और अर्द्धस्वप्न कहा है। अर्द्धस्वप्न नारी के निगूढ़तम हृदय को बड़ी सरल कोमलता से वीरेन्द्र ने ज्योतिर्मय कर दिया है। रियलिज़्म के ऊपर मानो गीतिकाव्य का उज्ज्वल आवरण डालकर उसने नारी-हृदय के सत्य (यथार्थ) को भी प्रकट किया है, किंतु उस सत्य के भीतर छिपी हुई स्वप्न-निगूढ़ नारी अपनी दुर्बलता में भी महामहिम हो गई है। यों कहें कि रवीन्द्र के गीतिकाव्य में छनकर शरद की कहानी-कला और भी बारीक होकर प्रकट हुई है। वीरेन्द्र की पात्रियाँ उसकी आत्मा की विकल बालिकाएँ हैं, वे 'देवदास' की 'पार्वती' हैं, जो हृदय के भीतर बहते हुए कोमल से कोमल मूक अदृश्य आँसुओं में 'आत्मपरिणय' रचती हैं। हिंदी-कथा-साहित्य में रोमांस की यह कला एक नई कली होकर फूटी है। वीरेन्द्र की कहानियों में रोमांस सार्थक हो गया है। वह मांसाहारी (शारीरिक सौन्दर्यभक्षी) रोमांस नहीं देता, वह देता है जीवन का अमृत-रस।

अब तक के कथा-साहित्य को हम 'वादों' की इस परिधि में देख सकते हैं—(१) रोमांटिसिज़्म, (२) आइडियलिज़्म और (३) रियलिज़्म। किंतु मुख्यत: हैं ये दो ही 'वाद'—(१) रोमांटिसिज़्म और (२) रियलिज़्म। अन्य 'वाद' इन्हीं के भेदोपभेद हैं। विकास के जिस स्वरूप ने जीवन और साहित्य में विशेष स्थान बनाया उसे विशेष नाम दे दिया गया। इस प्रकार हम रोमांटिसिज़्म के अन्तर्गत मिस्टिसिज़्म, हेलेनिज़्म, आइडियलिज़्म इत्यादि सुकोमल 'इज़्म' ले सकते हैं; रियलिज़्म के अन्तर्गत सुधारवाद, नाजीवाद, फासिस्टवाद और समाजवाद को। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि रियलिज़्म स्वयं कोई स्वतंत्र उद्भावना नहीं है, बल्कि वह रोमांटिसिज़्म के ही किसी अङ्ग-विशेष को अपने लक्ष्य की पाशविकता अथवा मनुष्यता की सीमाके अनुसार ग्रहण करनेकी एक प्रेरणा है,कोमलता को कठोरता पर कसने की प्रक्रिया है। एक शब्द में, रियलिज़्म रोमांटिसिज़्म की कसौटी है।

रोमांटिसिज़्म और रियलिज़्म हमारे जीवन के आरम्भ से ही साथ-साथ हैं। शिक्षितों की कला में ही नहीं, साधारण जनता की कला में भी इन्हें स्थान प्राप्त है। हाँ, समय के अनुसार इनके रूप-रङ्ग पुराने और नये होते गये हैं।

अभी रोमांटिसिज़्म के सभी विभेद आ भी नहीं पाये थे, हमने सिर्फ उसकी वर्णमाला ही शुरू की थी कि हमारे साहित्य

में रोमांटिसिज्म दिन-प्रति-दिन कम होने लगा। इसलिए नहीं कि वह क्लासिकल हो गया है, बल्कि इसलिए कि वह वह सम्पन्नवर्ग की दुर्बलताओं का अवगुण्ठन बन गया है।

नवीनताओं के बीच तो क्लासिसिज्म की भी अपनी एक शोभा है, जैसे जीवन में विगत स्मृति की। ताजे दिनों के बीच अतीत और भी मनोहर लगने लगता है। किन्तु आज क्लासिकल रोमांटिसिज्म हमें मनोहर इसलिए नहीं लग रहा है कि एक ओर तो वह सम्पन्नवर्ग का वरदान है और दूसरी ओर शोषित वर्ग का अभिशाप—

"उनका शृङ्गार चमकता मेरा करुणा के रोने से।"

वरदान के अभाव में शोषितवर्ग अभिशाप को ही वरदान मानकर अपने को छलता आया है। किन्तु आज सोशलिस्टिक रियलिज्म के तीव्र प्रकाश में हमें छायावाद—सौन्दर्य और प्रेम के विगत वैभव-विलास का, तथा गान्धीवाद (भक्ति और त्याग) शोषकों का ईश्वर की ओर से आत्मबचाव का कवच जान पड़ने लगा है। छायावाद और गान्धीवाद स्वयं अपने में निर्दोष हैं, केवल सम्पन्नवर्ग के सर्वग्रासी हाथों से इनका उद्धार कर भविष्य के जीवन में हमें इन्हें शोषितवर्ग का स्वाभाविक स्वास्थ्य देना है, न कि अभिशाप के रूप में कृत्रिम वरदान। हाँ, सोशलिस्टिक रियलिज्म के बाद कभी सोशलिस्टिक रोमांटिसिज्म भी आवेगा ही, उसी में शोषितों का भावी स्वास्थ्य है।

आज छायावाद के बाद कविता में और गांधीवाद के बाद कहानियों में सोशलिस्टिक रियलिज्म अपना स्थान बनाता जा रहा है। क्रांतिकारी पार्टी के मुक्त राजबन्दियों द्वारा हमारे साहित्य को सोशलिज्म का परिचय मिला है, यद्यपि उनमें भी कई दल हो गये हैं—कोई दल क्रांति के साथ संस्कृति के सम्पर्क में भी है तो कोई दल केवल क्रान्ति के ही विभिन्न स्टेजों का हिमायती—कोई स्टालिनवादी है, कोई ट्राटस्कीवादी, कोई लेनिनवादी। आज एक ओर गांधीवादियों के भीतर द्वन्द्व उत्पन्न हो गया है (अहिंसा के प्रश्न पर महात्माजी का कांग्रेस से पार्थक्य इसका सूचक है), तो दूसरी ओर समाजवादियों के भीतर भी अनेक द्वन्द्व हैं। यह असल में राष्ट्र की भावी जीवन-यात्रा के लिए मानसिक कवायद हो रही है जिसमें प्रत्येक एक दूसरे की कमजोरियों को दिखला-दिखलाकर चुस्त दुरुस्त होने की चुनौती दे रहा है। आज मानो हम भी भावी विश्वक्रांति के संगठन के लिए चञ्चल हो उठे हैं।

तो, हमारे साहित्य को जब मुक्त राजबन्दियों ने सोशलिस्टिक रियलिज्म दिया तब छायावाद और गांधीवाद की परिधि के भी कतिपय कलाकार इस दिशा में आये। आज साहित्य में प्रगतिवाद का तुमुल रव गूँज उठा है, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि कोलाहल अधिक है, गंभीर ध्वनि कम; मानो समुद्र अतल-हीन होकर ज्वार ले रहा है। रियलिज्म ने युग के सतृष्ण यौवन को गालियाँ अधिक सिखा दी हैं, वह राजनैतिक होली खेलने लगा है।

उसमें सम्पन्न वर्ग के प्रति विद्वेष अधिक है, दीन-दलितों के प्रति अनुराग कम, वह अनुराग जिसके कारण ही गांधीवाद अजेय है। गांधीवाद के भीतर से अतल-चिन्तन लेकर प्रगतिशील साहित्य को गम्भीर स्वर केवल पन्तजी ही दे रहे हैं। अन्य प्रगतिवादी जब कि केवल रियलिस्ट हैं, पन्त आइडियलिस्ट भी—संस्कृति के स्वप्नों में। अभी तक आप कविता में ही अपनी 'युगवाणी' दे रहे थे, अब कथा-साहित्य की ओर भी उन्मुख हैं। यह ठीक है कि आज के पन्त में वह हार्दिक तरलता नहीं है, किन्तु वह तरलता सूखकर रेगिस्तान नहीं हो गई है, बल्कि जमकर ग्लेशियर हो गई है, यह मानो जीवन-प्रवाह के पुनः गति-संधान के लिए पन्त का आत्मनियन्त्रण है। इसके बाद जब कभी फिर पन्त का आत्मद्रवण होगा तो हमारे साहित्य में सोशलिस्टिक रोमान्टिसिज्म भी उन्हीं के द्वारा आयेगा।

[५]

हमारे साहित्य में सोशलिस्टिक रियलिज्म अभी लेखों, कहानियों और कविताओं में ही आ पाया है, उपन्यासों में नहीं। गांधीवाद ने हमारे उपन्यास-साहित्य को प्रेमचन्द दिया, किन्तु समाजवाद ने अभी तक गोर्की को नहीं दिया। इसका कारण यह कि हमारे देश में समाजवाद के नेता अपेक्षाकृत सम्पन्नवर्ग के ही लोग हैं। गांधी की तरह उन्होंने हमारे जीवन के रहन-सहन में कोई अपूर्व परिवर्त्तन नहीं किया है। वे लिबरलों के राजनैतिक

प्रसाद और 'कामायनी'

[१]

कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध—इतनी विविध कृतियों को सँजोकर प्रसाद हमारे साहित्य में एक विस्तृत स्थान बना गये हैं। वे कवि और विचारक थे। किन्तु उनके विचारक में भी उनका कवि बोलता है, जिसके कारण उनके विचारों में एक कलात्मक आकर्षण आ गया है। प्रसाद का कवि उनके 'स्कन्द-गुप्त' नाटक के मातृगुप्त की भाँति ही जीवन की गम्भीर हलचलों में चला है। उसकी विशेषता यह है कि वहाँ भी वह अपने कवि-व्यक्तित्व को अपनाये हुए है।

प्रसाद बुद्धकालीन संस्कृति के अनुरागी थे। उस युग का संसार उनके नाटकों में उनका स्वप्निल मनोलोक बनकर बसा हुआ है। उपन्यासों में उनके मनोलोक की प्रतिच्छाया वह बहिर्लोक है जिसमें उन्होंने अपने पुरातन जगत् की सामयिक अभि-व्यक्ति दी है।

हम देखते हैं कि इस बहिर्लोक में प्रसाद एक उदार 'सनातन धर्म' (धार्मिक आदर्शवाद) के कलाकार थे। उनकी कला में जीवन का यथार्थ भी है—धार्मिक परम्पराओं के विकृति-निदर्शन में। विकृति-विमोचन के लिए उन्होंने सनातनधर्म को बौद्धधर्म

की विशाल भारतीयता दे दी है। यों कहें कि प्रसाद अपने सामयिक विकास में हिन्दू-महासभा के प्राणी थे, जिस प्रकार बौद्ध होते हुए भी स्व० भिक्षु उत्तमा हिन्दू महासभा के अङ्ग बन गये थे, उसी प्रकार प्रसाद-साहित्य में बुद्धिज्म सनातन धर्म को विस्तीर्णता देने के लिए सम्बद्ध हो गया है।

निःसन्देह आदर्शवादी के रूप में प्रसाद धार्मिक समाज-सुधारक थे। उनका सुधार कुछ-कुछ आर्यसमाजी तरीक़ों का लगता है, किन्तु वे आर्यसमाजी नहीं थे। बुद्धिज्म के भीतर जो धार्मिक उदारता है वही उन्हें देश-काल के अनुसार हिन्दूधर्म में सामयिक सुधारों की ओर भी ले गई।

असल में वे पुरातन संस्कारों के सचेष्ट साहित्यिक थे। उनके संस्कार मध्ययुग के सम्पन्न वर्ग के भावुक-संस्कार थे। पिछले राजसी युगों की भाँति ही वे अपनी कृतियों में रोमांस-प्रिय हैं। नवाबों और उमरावों की तरह साधारण जीवन की कहानियों में भी वे रस लेते हैं। इसमें उन्हें अवकाश का विश्राम मिलता है। इसके साथ ही, भाव-प्रवण होते हुए भी वे वास्तविकता की ओर से विमुख नहीं हैं। यों कहें कि वे अपने ऐश्वर्य और सौंदर्य-जगत् के स्थायित्व के प्रति सजग हैं, जैसे शासक अपनी साम्राज्य-रक्षा के लिए। अतएव, पिछले युगों के धार्मिक नरेश जिस प्रकार अपनी राजनीति और समाजनीति में समय को समझकर चलते थे उसी प्रकार प्रसादजी भी।

अपने नाटकों में प्रसादजी मध्ययुग में हैं, उपन्यासों द्वारा वे वर्तमान युग की ओर भी उन्मुख हुए हैं, मानो स्वप्नजगत् से वस्तु-जगत् की ओर। 'कङ्काल' में उन्होंने हिन्दू-धर्म का नवीन सार्वभौम आदर्श दिया है तथा उसकी सुरक्षा के लिए हिन्दू-समाज को वर्तमान यथार्थ चित्र देकर सजग भी कर दिया है। यथार्थ के चित्रण में उन्होंने चरित्रों को कला का आधुनिक दृष्टिकोण देने का प्रयत्न किया है, इस दिशा में वे शरद के क्षेत्र में हैं। किन्तु 'कंकाल' में प्रसादजी सुधारक अधिक हैं, प्रेरक कम। प्रसाद जो कुछ कहना चाहते हैं उसे रंगमंच पर कहकर चले जाते हैं, किन्तु शरद घरों के भीतर प्रवेश करते हैं और वहाँ के जीवन में उलट-फेर कर जाते हैं। और प्रेमचन्द ?—

प्रेमचन्द सार्वजनिक सुधारों में उदार हैं, प्रसाद और शरद की तरह; किन्तु व्यक्तित्व के विकास में वे आप्तनीतियों के ही पृष्ठ-पोषक हैं। यों कहें, सार्वजनिक जगत्में वे शरद और प्रसाद के साथ हैं, किन्तु व्यक्तिगत जगत् में गांधी के साथ। इधर यथार्थ की दिशा में समकक्षी होते हुए भी प्रसाद और शरद में भी एक अंतर पड़ जाता है। प्रसाद के यथार्थोन्मुख व्यक्ति समाज से पराजित हो जाते हैं, शरद के व्यक्ति समाज को हिला जाते हैं। इसका कारण यह कि प्रसाद स्खलित चरित्रों के प्रति सहानुभूतिशील तो हैं किन्तु उनके कर्तृत्व पर उन्हें स्वयं विश्वास नहीं है, जब कि शरद की सहानुभूति ऐसे चरित्रोंपर इसलिए है कि वे ही समाजकी वास्तविक

शक्ति हैं। प्रसाद की सहानुभूति यह कह सकती है—'छेड़ो मत यह करुणा का कण है।' किन्तु प्रसाद जिसे दया का पात्र समझते हैं, शरद उसे शक्ति का केन्द्र समझते हैं और प्रेमचन्द आदर्श की विडम्बना। प्रेमचन्द यथार्थ को अपने आदर्शों में पुनर्जन्म देकर उसकी मूल समस्याओं को ओझल कर देते हैं, जब कि शरद उसकी मूल समस्याओं को ही सामने ला देते हैं। हाँ, प्रेमचन्द साधारण पात्रोंको ही असाधारण व्यक्तित्व में परिणत करते हैं, तो प्रसाद असाधारण पात्रों द्वारा ही अपने आदर्श की प्रतिष्ठापना करते हैं; चाहे वह आचार्य-वर्ग का हो, चाहे धनाढ्य वर्ग का। यहाँ पर परोक्ष रूप से प्रसाद महत्ता के उपासक हैं। वे समाज पर प्रभाव डालने के लिए लोक-दृष्टि से सम्मान्य पुरुष चाहते हैं, जैसे 'कङ्काल' में गोस्वामी कृष्णशरण और 'तितली' में इन्द्र और शैला।

प्रसाद यदि पुरातन आदर्शों का आधुनिक प्रतीक चाहते हैं तो प्रेमचन्द आधुनिक चरित्रों में पुरातन आदर्श; और शरद पुरातन आदर्शों के प्रति श्रद्धालु होकर भी वर्तमान के उपेक्षितों को ही अधिक चाहते हैं। पुराने भारतीय समाज के ये तीन कलाकार हमारे साहित्यिक त्रिकोण हैं। तीनों सामाजिक जीवन के भीतर अपने स्वलित चरित्रों के लिए स्थान बनाना चाहते हैं, किन्तु तीनों की प्रेरणाओं के ढङ्ग अलग-अलग हैं। प्रसादजी यथार्थवाद को एक परिचय-पत्र के रूप में उपस्थित करते हैं, प्रेमचन्द आदर्शवाद को प्रवेश-पत्र के रूप में और शरद मानव-

वाद को अधिकार-पत्र के रूप में। यह नहीं कि शरद ने आदर्श की उपेक्षा कर दी है। किन्तु प्रसाद और प्रेमचन्द के आदर्श देवताओं के हैं, मनुष्यों के नहीं: शरद के आदर्श मनुष्यों के हैं। उनका मनुष्य अपनी पङ्किलता में ही पङ्कज है। शरद की पंकिलता दलदल की कीचड़ नहीं, बल्कि जीवन के अतल की वह तलछट है जो मनुष्यता के विकास की खाद बन जाती है। जहाँ आत्मचेतना नहीं, केवल जड़ता ही जड़ता है, पंकिलता वहीं दलदल बन जाती है। ऐसी पंकिलता शरद को भी अभीष्ट नहीं।

अब तक हमारे साहित्य में जीवन का विकास ही विचारणीय रहा है, अब जीवन के साधन भी विचारणीय हो गये हैं। फलत: साहित्य में वर्ग-चेतना भी सजग हो गई है। किन्तु चाँदी-सोने और ताँबे के विषम वर्गीकरण के सन्तुलित हो जाने पर भी जिस प्रकार संसार में खोटे और खरे सिक्कों की जाँच-पड़ताल होती रहेगी,उसी प्रकार खोटे और खरे मनुष्यों की भी। उस जाँच-पड़ताल में शरद जैसे कलाकारों के उपन्यास ही चरित्र की कसौटी बनेंगे। इस चरित्र-कला में शरद वर्गहीन लेखक हैं; उनका मनुष्य धनियों में भी है, निर्धनों में भी। वे 'मनी' नहीं, मन देखते हैं। किन्तु प्रेमचन्द और प्रसाद वर्गवादी लेखक हैं—प्रेमचन्द की मनुष्यता निर्धनता में खिलती है, प्रसाद की मनुष्यता सम्पन्नता में। आज जो वर्ग-युद्ध सजग हो रहा है उस दिशा में भी अपने-अपने अन्तिम दृष्टि-बिन्दु ये तीनों कलाकार दे गये हैं; शरद 'पथेर दाबी'

में, प्रेमचन्द 'गोदान' में, प्रसाद 'कामायनी' में। 'पथेर दाबी' का दृष्टिकोण हम यथास्थल उपस्थित कर आये हैं, 'गोदान' पर आगे दृष्टिपात किया जायगा। यहाँ हम प्रसादजी को ही उपस्थित करना चाहते हैं।

अपने नाटकों में प्रसाद पुराकाल में थे, 'कङ्काल' और 'तितली' से वर्तमानकाल में आये हैं। 'कङ्काल' में वे एक साम्प्रदायिक परिधि में थे, 'तितली' में राष्ट्रीय जागृति की ओर उन्मुख हुए, किन्तु 'कामायनी' में वे फिर अपने नाटकोंके ही मनोलोक में लौट गये। अतएव, वर्तमानकाल के भीतर 'तितली' ही उनकी लोक-प्रगति की सीमा है। प्रसादजी वर्ग-वैषम्य के निराकरण के लिए कोई नवीन आर्थिक पहलू नहीं दे सके। गान्धी-युग के प्रभाव से प्रेमचन्द की भाँति ही वे ग्राम-संघटन की ओर बढ़े हैं, किन्तु 'कङ्काल' का धार्मिक (साम्प्रदायिक) संस्कार वहाँ भी नहीं छोड़ सके हैं। शैला (अँगरेज रमणी) और इन्द्र (हिन्दुस्तानी युवक) के विवाह (अन्तस्सामाजिक सम्बन्ध) द्वारा हिन्दू संस्कृति की प्रतिष्ठापना तथा ग्राम-संघटन में वैभव का सद्व्यय, यही 'तितली' नामक उपन्यास का वस्तुआधार है। यह आर्य्यसमाज और कांग्रेस का संयुक्तीकरण है। प्रसादजी पूरे कांग्रेसी (गान्धीवादी) नहीं थे। पं० मदनमोहन मालवीय जितने अंश में कांग्रेस के साथ हैं, उतने ही अंश में प्रसादजी भी। राजनीतिक लक्ष्य के लिए वे कांग्रेस के साथ हैं, किन्तु सामाजिक लक्ष्य में उनकी

कुछ अपनी धार्मिक धारणाएँ हैं। मालवीयजी अपनी सामाजिक सीमा में अछूतोद्धार कर सकते हैं, हद से हद अवान्तर-जातीय विवाह को स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु 'प्रसाद' इससे भी आगे अन्तस्सामाजिक सम्बन्ध की ओर चले गये हैं। जिसे बुद्धिज्म ने सुदूर देशों में फैलकर भारत को विशाल भारतीयता दी थी, उसी की अन्तःप्रेरणा से प्रसादजी सामाजिक विस्तार में उतनी दूर तक जाने को अग्रसर हुए। जैसा कि कहा है, प्रसादजी आर्यसमाजी नहीं थे, वे भी मालवीयजी की भाँति ही सनातनधर्मी थे, किन्तु सनातनधर्म को वे बुद्धिज्म के द्वारा एनलार्जमेन्ट दे देना चाहते थे। वे मालवीयजी के धार्म्मिक क्षेत्र के रोमैन्टिक कलाकार थे, कांग्रेस के गान्धी-क्षेत्र के नहीं। गान्धी-युग की कांग्रेस के साथ तटस्थ-आत्मीयता उन्हें इसलिए अभीष्ट है कि उसके रचनात्मक कार्य्यों में उन्हें पार्थिव सुरक्षा मिलती है और उसके दार्शनिक सिद्धान्तों में अपनी धार्मिक संस्कृति को श्रेष्ठता-पूर्वक उपस्थित करने का सुअवसर मिलता है। बुद्धिज्म के कारण गान्धीवाद प्रसाद को स्वभावतः मान्य है, अन्तर यह कि प्रसाद उसे साम्प्रदायिक व्यक्तित्व देते हैं जब कि गांधीवाद उसे साम्प्रदायिक सीमा से बाहर, लोक-धर्म के रूप में उपस्थित करता है। गांधी-वाद में संसार के सभी देशों की सभी जातियों को बिना किसी साम्प्रदायिक विभेद के स्थान मिल जाता है, जब कि मालवीयजी को केवल हिन्दुत्व अभीष्ट है और प्रसाद के कलाकार को बुद्धिज्म।

बुद्धिज्म में शान्त रस का एक मनोहर कवित्व है, इसलिए कवि प्रसाद को ही नहीं, बल्कि जिनमें (यथा, जवाहरलाल में) कुछ भी आध्यात्मिक आस्था शेष है, उन्हें भी बुद्ध का व्यक्तित्व आकर्षक लगता है।

तो, प्रसाद को बुद्धिज्म के कारण गान्धीवाद का दार्शनिक पक्ष प्रिय है, और पार्थिव सुरक्षा के लिए उसका भौतिक पक्ष (रचनात्मक कार्य्यक्रम)। दार्शनिक पक्ष में वे मालवीयजी के हिन्दूत्त्व से आगे जाते हैं; किन्तु भौतिक पक्ष में वे गान्धीजी से आगे नहीं जाना चाहते, क्योंकि इससे उनके नाटकों के पुराकालीन राजकीय चित्रों का स्वप्न-भङ्ग हो जाता है। गान्धीजी भी पुराकालीन स्वप्नदर्शी हैं, किन्तु प्रसाद पृथ्वी पर बौद्ध साम्राज्य देखना चाहते हैं, गान्धीजी 'राम-राज्य'। गान्धीजी के राम-राज्य में ऐश्वर्य के उस रोमान्स को स्थान नहीं है, जो 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों में है; गान्धीजी राम-राज्य में केवल अतीन्द्रिय प्राणी निवास करते हैं। किन्तु गान्धी-युग की कांग्रेस से आगे जो नवीन समाजवादी युग उद्बुद्ध हो रहा है, वह न तो प्रसाद के बौद्ध साम्राज्य को चाहता है और न गान्धीजी के 'राम-राज्य' को। वह तो पार्थिव मनुष्य के पार्थिव वैषम्य को ही मिटा देना चाहता है। आध्यात्मिकता की यदि आवश्यकता होगी तो नव-निर्माण के बाद उसकी भी प्राण-प्रतिष्ठा हो जायगी, इस दायरे में जवाहरलाल की तरह कुछ समाजवादी साहित्यिक जागरूक हैं।

इस सन्धि-सीमा में गान्धीवाद समाजवाद के प्रति सहानुभूतिपूर्ण है और समाजवाद गान्धीवाद के प्रति सहृदय।

प्रसादजी समाजवाद से सन्तुष्ट नहीं थे। आर्थिक विद्रोह उन्हें अभीष्ट नहीं था। मानवता के नाम पर वे दया-दाक्षिण्य के समर्थक थे। उनके इस दृष्टिकोणको समझने के लिए हम 'स्कन्दगुप्त' और 'राज्यश्री' नामक उनके ऐतिहासिक नाटक देख सकते हैं। दोनों नाटकों में राजपद और राज्यवैभव की विडम्बना दिखाई गई है, किन्तु यह आर्थिक और सामाजिक सत्य न होकर, जीवन की भारग्रस्त विकलता है, खीझ है, झुँझलाहट हैं; वैभव का निश्चिन्त उपभोग न कर पाने के कारण। यह तो आर्थिक वैषम्य का निदान नहीं हुआ।

आज समाज जिस आर्थिक असन्तोष को लेकर चल रहा है, उसका एक स्पष्ट संकेत 'राज्यश्री' में है। उसमें शान्तिभिक्षु आज के आर्थिक वैषम्य का शिकार है। किन्तु प्रसादजी ने उसे चोर और डाकू के रूप में उपस्थित किया है, आगे चलकर उसका नाम पड़ा है 'विकट घोष'। असन्तोष में विकट घोष तो होता ही है। वह जीवन-रिक्त जनता की अतृप्त आकांक्षाओं का प्रतीक है। प्रसादजी ने 'राज्यश्री' से उसे भी 'दान' दिलवाना चाहा है, साथ ही उसे तहजीब सीखने को आगाह भी कराया है। क्या प्रकारान्तर से प्रगतिशील युग के प्रति प्रसादजी का यही निर्देश है!

[२]

अब हम देखें, प्रसादजी 'कामायनी' में कहाँ गये हैं—

आदिम प्रलय-काल (जलप्लावन) के बाद इस काव्य का पटोद्घाटन होता है। इस जल-प्लावन के पूर्व पृथ्वी पर देववर्ग का अनियन्त्रित प्रभुत्व था। प्रसादजी के कथनानुसार, "देवगण के उच्छृङ्खल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि में अन्तिम अध्याय लगा और मानवीय भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नये युग की सूचना मिली।"—इस कथन-सूत्र में प्रसाद ने इस काव्य के रूपक-संकेत को स्पष्ट किया है। प्रसादजी जरा तटस्थ होकर कहते हैं—"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में सहायक हो सकता है।" किन्तु प्रसादजी का यह भूमिका-भाग अपने काव्य से तस्टथ नहीं है, निःसंदेह यह काव्य उक्त निर्दिष्ट रूपक ही है, रूपक न मानने पर वर्तमान काल के पात्रों की तरह ही 'कामायनी' के पात्र भी व्यक्ति मात्र रह जाते हैं, अपनी इकाई में उस पुरातन युग के उद्वेलनों के प्रतीक नहीं। इनके अस्तित्व की सार्थकता अतीत के प्रतीक होने में ही है। हाँ, यह काव्य मानव का मनोवैज्ञानिक 'इतिहास' न होकर मनोवैज्ञानिक 'उद्भव' है। यह मानवता का एक स्वर्गीय स्वप्न छोड़ जाता है, आगे मानव-जीवन का इतिहास इसके अनुसार चला या नहीं,

इतिहास की परिणतियों ने क्योंकर आज की भीषण समस्याओं का स्वरूप धारण कर लिया, यह इस काव्य का प्रतिपाद्य विषय नहीं। प्रसाद ने तो इसमें एक मनःस्वप्न देख लेना चाहा है, वही उनका ऐतिहासिक अतीत और भविष्य है। वर्तमान काल तो मानवता के उद्भव के पूर्व की ही प्रलयङ्कर स्थिति में है, यह मेदिनी की प्रसव-पीड़ा का युग है। 'कामायनी' अतीतकालीन होकर भी युग-युग के नव-नव आवर्त्तन-प्रवर्त्तनों का सौरचक्र बन गया है, मनों इसी गति-विधि से इतिहास में सर्ग और प्रलय आते-जाते हैं।

इस काव्य द्वारा प्रसादजी ने अपने विश्वासों और धारणाओं की निश्चित सूचना दे दी है, यह भी सूचित हो जाने दियी है कि वर्तमान को उन्हें किसी नये ढङ्ग से देखने की आवश्यकता नहीं है। प्रसाद की यह पुरातनता उन कलाप्रेमियों की सी है जो पुरातत्त्व के अवशेषों के एकत्र-दर्शन से वर्तमान की भाराक्रांतता को आत्मविस्मृत करते हैं। स्वयं वे उस युग में होते तो आज का वर्तमान उस युग के भविष्य का स्वप्न-चित्र बनकर उनकी जीवन-दृष्टि को विश्राम देता रहता, जैसे कि अतीत के भीतर भविष्य का स्वप्न-सुख उन्हें विश्राम देता है। इस कोटि के कला-प्रेमी भीषण से भीषण वास्तविकता को किसी चित्र में बड़ी निश्चिन्तता से देख सकते हैं, किंतु दैनिक जीवन में किसी लावण्य-लोक में ही खुलकर साँस ले सकते हैं। उनका इतिहास-प्रेम

श्रीमन्तों का स्वप्न-सुख है। पुरातत्त्व के ध्वंसावशेषों को देखते-देखते थक जाने पर वे या तो खँडहरों का नक़शा खोलकर बैठ जायँगे या यदि भाव-प्रवण हुए तो उसी युग के भाव-शिल्पों में बिहरेंगे। ऐतिहासिक नाटकों के नाटककार और 'कामायनी के काव्यकार 'प्रसाद' जी की कहानियों में उस पुरातनवादी जीवन का ऐसा ही रूपान्तर है। इस कोटि के कला प्रेमियों में यदि करुणा है भी तो कल्पना, सौन्दर्य और प्रणय के महोत्सव में बख्शिश के रूप में, जिसे करुणा का वास्तविक पात्र शायद ही पा सके।

तो, अब हम इस काव्य की कथा-वस्तु देखें, यद्यपि इस काव्य में कथानक न होकर कथा का भावात्मक संकेत है। संकेत कहीं-कहीं इतना सूक्ष्म है कि जरा सा भी चित्त-विक्षेप होने पर सारा काव्य अस्पष्टता के कुहरे में डूब जाता है। एक तो यों ही यह काव्य माइकेल के 'मेघनाद-वध की भाँति क्लिष्ट है, तिस पर प्रसङ्ग की सूक्ष्म-सूत्रता इसे और भी गहन बना देती है।

इस काव्य के रूपकमय पात्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. मनु—देव-वर्ग के अन्तिम उद्भ्रान्त प्रतिनिधि, जिन्हें जल-प्लावन के बाद अपने युग की विभीषिका में मानवता का आदर्श पाने के लिए साधना करनी पड़ी।

२. किलात और आकुलि—जलप्लावन के बाद असुरों के अवशेष। आसुरिक भावों के पुरोहित या प्रतिनिधि। मनु के लिए शारीरिक पशुता के प्रोत्साहक।

३. श्रद्धा—जल-प्लावन के बाद सृष्टि की अवशिष्ट नारी। मानवता की देवी। हृदय की प्रतिनिधिन।

४. इड़ा—मनु की यज्ञ-दुहिता। बुद्धि की प्रतिनिधिन।

५. मनु का पुत्र (मानव)—जो श्रद्धा का गर्भजात है। मनु की विद्रोही प्रजा का समुचित राजकुमार।

६. नागरिक—उस युग में वर्तमान युग की असन्तुष्ट प्रजा के प्रतीक।

इन पात्रों की चरित्र-रेखाएँ इस प्रकार हैं—

मनु प्रलय के तूफानों को झेलकर उसीकी तरह अशांत किन्तु एकांत-शून्य हो गये हैं। वे देववर्ग के उच्छृङ्खल भोग-विलास के अवशिष्ट प्रतिनिधि हैं। उनका पौरुष पाशविक है। ईश्वर के प्रतिनिधि आज के नरेशों की भाँति देववर्ग कभी निरंकुश हो गया होगा, उसी के पापों का बाड़व-विस्फोट जल-प्लावन बना। उसी के अनुरूप उसके प्रतिनिधि मनु हैं। वे चरम यथार्थवादी हैं। वे एकदम अज्ञान आदिमों की तरह नहीं हैं, क्योंकि उनमें उनके पूर्व की एक विकसित सृष्टि का संस्कार शेष है, इसी लिए वे बुद्धि-शून्य नहीं हैं।

उनके एकांत-शून्य में श्रद्धा ने मानो नियति की कल्याणी प्रेरणा होकर प्रवेश किया, अंधकार में इन्दुकला-सी। जीवन में वह भी एकाकिनी थी। प्रलय के बाद उष्णता और शीतलता के प्रतीक ये ही देवोपम नर-नारी बच गये थे। इन्हीं को लेकर पुनः दैवी सृष्टि होती है। दोनों का मिलन एकाकी जीवन को मनोरम बना देता है। किन्तु दो भिन्न अन्तःप्रदेशों की भाँति दोनों के स्वभाव और व्यक्तित्व में अन्तर है—श्रद्धा यदि देवत्व की आत्मा है, तो मनु देवत्व की दुरात्मा या विडम्बना। श्रद्धा में यदि नारी का मातृत्व अंकुरित है तो मनु में पुरुष का नग्न विलास। श्रद्धा अपने गर्भ में एक शिशु (मानो भावी युग के मानव) को धारण कर गृह-लक्ष्मी की भाँति अपनी गृहस्थी में लग जाती है, किन्तु मनु का मन केन्द्रच्युत ग्रह की भाँति फिर शून्य में उद्भ्रान्त होकर भ्रमण करता है—

"देख देखकर मनु का पशु जो
व्याकुल चंचल रहती—
उनकी आमिष-लोलुप रसना
आँखों से कुछ कहती।"

ऐसी ही तामसिक स्थिति में मनु को कर्मयज्ञ करने की प्रेरणा होती है। देवत्व की उस विडम्बना को असुरों की विडम्बना का सहयोग मिल जाता है। आकुलि और किलात (असुरों के अवशिष्ट प्रतिनिधि) उद्भ्रांत मनु को और भी बहका देते हैं, इस

प्रकार वे असुर पुरोहित अपने प्रतिनिधित्व को सार्थक कर लेते हैं। यह कर्म-यज्ञ दैवी न होकर आसुरिक है। दैवी कर्म-यज्ञ तो श्रद्धा की गृहस्थी में चल रहा है। इस प्रकार प्रलय के बाद, सृष्टि के दैव और दुर्दैव अंश एक दूसरे से मिलकर भी अपने व्यक्तित्व की भिन्नता में एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। यहीं से श्रद्धा और मनु के व्यक्तित्वों का अनैक्य प्रकट होता है। मनु अपने को अपनी आत्मलिप्सा में ही सीमित कर लेना चाहते हैं, शेष सृष्टि को अपने ही प्रभुत्व-विकास का साधन बना लेना चाहते हैं। वे तामसिक वासनाओं की नित्यनूतन नवीनताओं के विकट उपासक हैं—

"जो कुछ मनु के करतलगत था
उसमें न रहा कुछ भी नवीन,
श्रद्धा का सरल विनोद नहीं
रुचता अब था, बन रहा दीन।"

जीवन के मिथ्या अभावों में आत्मविस्मृत होकर—

"पुरोडाश के साथ सोम का
पान लगे मनु करने,
लगे प्राण के रिक्त अंश को
मादकता से भरने।"

ठीक शरद के 'देवदास' की तरह। किन्तु देवदास की अशांति शांति के लिए है, मनु की अशांति उद्भ्रांति के लिए। आगे

मनु जिस श्रद्धा को छोड़ जाते हैं उसी श्रद्धा (महामहिम नारी) को पाने के लिए देवदास की अशान्ति है। श्रद्धा मनु को समझाती है—

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा ।
औरों को हँसते देखो मनु !
हँसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ ।
सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोड़ोगे,
इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुँह मोड़ोगे ।

श्रद्धा उस अहेरी बनचारी को अहिंसा (मानवी कोमलता) का पाठ देती है, अपनी गृहस्थी की ओर संकेत कर कहती है—

मैंने तो एक बनाया है
चलकर देखो मेरा कुटीर

\+ \+ \+

मैं बैठी गाती हूँ तकली के
प्रतिवर्त्तन में स्वर विभोर—
'चल री तकली, धीरे-धीरे
प्रिय गये खेलने को अहेर।
जीवन का कोमल तन्तु बढ़े
तेरी ही मंजुलता समान,
चिरनग्न प्राण उनमें लिपटें
सुन्दरता का कुछ बढ़े मान।'

किन्तु मनु का उद्धत मन उस गृहिणी की सीख के सूत्र में नहीं बँध पाता। मनु का तो संकल्प-विकल्प यह है—

मेरा सुन्दर विश्राम बना
सृजता हो मधुमय विश्व एक,
जिसमें बहती हो मधुधारा
लहरें उठती हों एक-एक।

* * *

यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एकतत्त्व।

* * *

तुम अपने सुख से सुखी रहो
मुझको दुख पाने दो स्वतन्त्र,
'मन की परवशता महा:दुख'
मैं यही जपूँगा महामन्त्र।

निदान, वह अपनी गृहलक्ष्मी श्रद्धा को छोड़ जाता है।

मनु के कर्म-यज्ञ के हविष्य से एक सन्तति उत्पन्न होती है— इड़ा, मानो उनके इतने दिनों की तामसिक साधना की सिद्धि। किन्तु यह सिद्धि है, इसलिए दुर्बुद्धि न होकर 'बुद्धि' हो गई है। मनु की 'दुर्ललित वासना' अपनी उस कन्या (इड़ा) पर भी आसक्त हो जाती है। 'बुद्धि' (इड़ा) उस दुर्बुद्धि से अपने को बचाकर उसे एक आत्मनियन्त्रित प्रजापति होने के लिए प्रेरित करती है। किन्तु मनु की स्वेच्छाचारिता बुद्धि से नियन्त्रित न होकर उसे भी अपनी दुर्बुद्धि का साधन बनाकर जीवन-पथ में निर्बन्ध चलना चाहती है। श्रद्धा (सहृदयता) से बिछुड़कर मनु ने एक लम्बी अवधि के बाद एक यान्त्रिक सभ्यता का राजतन्त्र परिचालित कर लिया था। सहृदयता (श्रद्धा) बहुत पीछे छूट चुकी थी, अब बुद्धि (इड़ा) को पाकर मनु उसकी भी मर्यादा नहीं ग्रहण कर सके। श्रद्धा यदि हृदय-नीति है तो इड़ा राजनीति है, मनु (मन) निरंकुश नृपति। हृदय-नीति (श्रद्धा) ने मनु के साहचर्य से प्रकृति के सात्त्विक अंशों को प्रस्फुटित करना चाहा था, राजनीति (इड़ा) ने प्रकृति

के राजसिक अंशों को, किन्तु मनु ने सबका अतिक्रम कर तामसिक साम्राज्य-विस्तार का ही यत्न किया। हृदय-नीति ने तकली और अहिंसा अपनाई, राजनीति ने यन्त्र-तन्त्र और आयुध-यान का प्रसार किया, किन्तु मनु ने इन सबको अपनी ही लालसाओं के उपभोग में केन्द्रित कर लेना चाहा, जिसके कारण इड़ा (राज-नीति) को भी कहना पड़ा—

मनु, सब शासन स्वत्व तुम्हारा सतत निबाहें,
तुष्टि—चेतना का क्षण अपना अन्य न चाहें!
आह प्रजापति, यह न हुआ है कभी न होगा
निर्बाधित अधिकार आजतक किसने भोगा?

मनु की निरंकुशता से प्रजा में विद्रोह भड़क उठा। एक दिन श्रद्धा ने मनु को हृदय—धर्म की सीख दी थी, अब इड़ा राजनीति की ओर से मनु को सावधान करने लगी—

मनु! देखो यह भ्रान्त निशा अब बीत रही है
प्राची में नव उषा तमस को जीत रही है।

किन्तु मनु राजनीति (इड़ा) की भी उपेक्षा कर बोल उठते हैं—

क्रन्दन का निज अलग एक आकाश बना लूँ,
उस रोदन में अट्टहास हो तुमको पा लूँ।

* * * * *

यह सारस्वत देश तुम्हारा तुम हो रानी,
मुझको अपना अस्त्र बना करती मनमानी।
यह छल चलने में अब पंगु हुआ समझो,
मुझको भी अब मुक्त जालसे अपने समझो।

*　　*　　*　　*

मैं शासक, मैं चिर स्वतंत्र तुम पर भी मेरा–
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा।

और वासना के हाथों ज्यों ही मनु ने उसे आलिंगन का बन्दी बनाया, त्योंही विद्रोही प्रजा सिंहद्वार तोड़कर भीतर घुस आई। जिन असुर पुरोहितों (किलात और आकुलि) के प्रोत्साहन से मनु की उद्भ्रांति और भी भ्रांत हो गई थी, वे भी विद्रोही दल में जा मिले थे, विद्रोहियों से मिलकर वे मानो देव-सृष्टि के अवशिष्ट प्रतिनिधि को समाप्त कर अपना जातीय प्रतिशोध पूरा कर लेना चाहते थे। मनु और विद्रोहियों में घोर संघर्ष हुआ। पौराणिक अस्त्र-शस्त्रों के रूपक में कवि ने आज के वैज्ञानिक महा-युद्ध का संक्षिप्त संकेत-चित्र उपस्थित कर दिया है, दिखलाया है कि प्रकृति के जिन राजसी उपकरणों को एकत्र कर हम शासन की रक्षा करते हैं उन्हीं से शासन का संहार भी हो जाता है। इस संघर्ष में मनु आहत और हतचेत होकर गिर पड़े। विद्रोही लौट गये। विद्रोही मनु (राजा) के विरोधी थे, किंतु इड़ा (राजनीति) के नहीं। इड़ा को वे अपनी स्वामिनी मानते थे।

प्रसङ्ग जान लेने पर वह श्रद्धा की अनुवर्त्तिनी हो जाती है, मानो बुद्धि हृदय की सत्ता अङ्गीकार कर लेती है। श्रद्धा उसे बताती है, 'अपनापन चेतन का सुखमय' (चैतन्य का आत्मबोध) खो जाने के कारण सृष्टि में अशान्ति उत्पन्न हुई है। इधर हतचेतन मनु जब सचेत हुए तब नारी के इस आत्मत्याग से पराजित हो एक मौन-ग्लानि में डूब गये। प्रकृतिस्थ होने पर मानो अपने इतने दिनों के जीवन का प्रायश्चित्त करने के लिए बिना किसी के जाने अज्ञात दिशा में फिर से नई साधना के लिऐ चले गये। किन्तु श्रद्धा भी निश्चिन्त नहीं रह सकी, शुभकामना की तरह वह पुनः मनु की खोज में निकल पड़ी। वह इड़ा की परिवर्तित मति को पहिचान-कर उसके विश्वास पर अपने कुमार(भावी युग के नव-मानव)को उसी के पास छोड़ जाती है, ताकि दोनों भाई-बहिन प्रजा का पालन-सञ्चालन करते रहें। यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि इड़ा, मनु के पुत्र की परिणीता हो जाती है या सहोदरा—

"कह इड़ा प्रणत ले चरण धूल
पकड़ा कुमार-कर मृदुल फूल"

यदि इड़ा परिणीता है तो कुमार को स्वयं इड़ा का पाणि-ग्रहण करना चाहिए था, न कि इड़ा कुमार का कर पकड़ती। किंतु इससे यह स्पष्ट है कि बुद्धि (इड़ा) के विनयन और हृदय (कुमार) के स्पंदन के सहयोग से प्रसाद राजनीति का नव-सञ्चालन चाहते हैं। यहाँ 'राज्यश्री' नाटक के सम्राट् हर्ष-

वर्द्धन और बहिन राज्यश्री के सम्मिलित व्यक्तित्व का आभास मलता है।

इसे हम यथार्थवाद की जागरूकता और आदर्शवाद की सहृदयता का योग भी कह सकते हैं, अथवा परुष-सुकुमारता के साथ सुकुमार परुषता का सान्निध्य। नारी और पुरुष के जीवन में नारीत्व और पुरुषत्व का पाश्चात्य जीवन में जो अतिरेक है, यह उसके भारतीय सन्तुलन का निर्देश भी जान पड़ता है।

आखिर मनु श्रद्धा को पुनः मिल जाते हैं, मानो तापसी को तपस्वी मिल जाता है। मनु अब एक नूतन व्यक्तित्व से ज्योतिष्मान् थे। चन्द्र और ज्योत्स्ना की भाँति मनु और श्रद्धा के व्यक्तित्व अभिन्न हो जाते हैं। इस तादात्म्य के चिदानंद आलोक में दोनों के लिए अखिल सृष्टि एक दिव्य सुषमासे प्रफुल्ल हो उठी। यही इस काव्य का प्रतिपाद्य 'हृदय-सत्ता का सुंदर सत्य' है।

दोनों को लौटते न देखकर इड़ा और कुमार भी प्रजामंडल के साथ नये धर्म-राज्य का माङ्गलिक साज सजकर दर्शनोंके लिए चल पड़ते हैं। वहाँ पहुँचकर वे सभी उसी महानंद में निमग्न हो जाते हैं जिसमें घुलकर श्रद्धा और मनु अद्वैत हो गये थे।

इस प्रकार वह काव्य सुखांत हो गया है। प्रसाद के नाटकों में जो एक आध्यात्मिक अनुभूति है, वही अनुभूति इस काव्य में स्वर्गीय हो गई है।

इस काव्य की कुञ्जी प्रसाद की 'कामना' में है, जैसे पन्त के 'गुञ्जन' की कुञ्जी 'ज्योत्स्ना' में। 'कामना' में प्रसाद ने जीवन का जो रूपक दिया है, 'कामायनी' उसी का विस्तृत काव्य-रूप है।

यह काव्य आदि मानव के जीवन-विकास का रूपक है। प्रलय के बाद के प्रथम मनुष्य (मनु) के मनोभावों के संघर्ष और उसकी शुभ परिणति का काव्य है। जीवन की रागात्मक वृत्तियों के संकलन के बाद मानसिक अशांति का समाधान उसने किस प्रकार पाया, इस काव्य में इसी रूपक का क्रमिक चित्र है। अपने यहाँ के पुरातन विश्वासों के अनुसार यह काव्य चला है। आदि मानव और उसके जीवन-विस्तार की कथा सभी देशों और सभी जातियों में अपनी अपनी धारणाओं के अनुसार है। कवियों ने जिस रूप में आदि मानव की कथा अपनाई है, वैज्ञानिक सिद्धांतों का रूप में उससे भिन्न है। दन्तकथाओं और आधुनिक आख्यायिकाओं में जितना अन्तर है, उतना ही आप्त विश्वासों और वैज्ञानिक दृष्टिकोणों में। इस क्षेत्र में वैज्ञानिक यदि प्राणितत्त्व का विकास दिखलाता है तो कवि मनस्तत्त्व का। यों कहें, एक यदि जीव-शास्त्र देता है तो दूसरा जीवन-शास्त्र। अतएव कवि के कृतित्व को हम इन दृष्टिबिन्दुओं से देख सकते हैं—एक तो जीवन-पक्ष, दूसरे साहित्य-सम्बन्धी कला-पक्ष। कला-पक्ष यदि काव्य का शरीर है तो जीवन-पक्ष उसका प्राण।

'कामायनी' का सम्पूर्ण जीवन-निष्कर्ष इसके 'रहस्य' नामक खण्ड में है। इस काव्य की परिणति यह है—

स्वप्न,स्वाप, जागरण भस्म हो इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में श्रद्धा-युत मनु बस तन्मय थे।

इस प्रकार 'कामायनी' के कवि की दृष्टि में इच्छा, क्रिया और ज्ञान के सम्मिलन में ही जीवन की पूर्णता है। यही जीवन की 'समतलता' है, जो कवि का अभीष्ट निरूपण है। जीवन की इस समतलता में ही जीव की समरसता का भी उद्रेक होता है। एक में जीवन का आचार-विधान है, दूसरे में जीवन का स्वभाव-विधान। ये दोनों मनुष्य के आत्मविकास के ही अभिन्न स्तर हैं। लोक-विकास इसी आत्मविकास का सामूहिक सङ्गठन बन जाय, 'कामायनी' के कवि का यह स्वर्गीय स्वप्न है। जीवन के इस समन्वय से सृष्टि की एकता का भी बोध होता है। उसी आध्यात्मिक एकात्मबोध की भूमिका में स्थित होकर कवि मानो मनु की दिव्य साधना के स्वर में स्वर मिलाकर उद्बोधित करता है—

सब भेद भाव भुलवाकर
दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव ! कह, रे 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता।

यहाँ यह प्रश्न ही नहीं रह जाता कि प्रसादजी आदर्शवादी थे या यथार्थवादी। स्पष्ट ही जीवन में वे एक आध्यात्मिक

आदर्शवाद के आस्तिक पुजारी थे। यह आदर्शवाद प्रसाद के मनोजगत् का 'क्लाइमेक्स' है, किन्तु वस्तुजगत् में उनके कवि का स्वरूप 'कामायनी' की इन पंक्तियों में है—

मैं भी भूल गया हूँ कुछ
हाँ स्मरण नहीं होता, क्या था!
प्रेम, वेदना, भ्रान्ति या कि क्या
मन जिसमें सुख सोता था।

* * *

पहेली-सा जीवन है व्यस्त
उसे सुलझाने का अभिमान—
बताता है विस्मृति का मार्ग
चल रहा हूँ बन कर अनजान।

यही खड़ीबोली के कला-युग (छायावाद) में दिया हुआ उनका अन्यमनस्क साहित्य है। प्रसाद की अन्य कविताओं, कहानियों, उपन्यासों और नाटकों में उनकी यही चित्तवृत्ति है। 'मनु' के चरित्र-निदर्शन में यह अपने पूरे एन्लार्जमेन्ट के साथ उपस्थित हुई है, किन्तु अन्त में वे मनु को उस प्रज्ञा का प्रकाश दे गये हैं, जिसे उन्होंने आत्मशान्ति के लिए अन्तिम पाथेय के रूप में रख छोड़ा था।

अपने समय की अनुभूतियों की इकाई में प्रसाद ने उस युग के फ्रेम में वर्त्तमान काल को भी उपस्थित किया है, जिससे कुछ

सामायिक प्रश्नों (यथार्थवाद, यन्त्रवाद, शासनवाद, वर्गवाद तथा इनके परिणाम) पर उनके स्वगत विचारों का परिचय मिलता है। इसके लिए हम 'कामायनी' के ये पृष्ठ (५१ से ५९ तथा १४०, १७१, १८६, १९९, २००) देख सकते हैं।

अब हम कला-पक्ष लें।

पहिली बात तो यह कि प्रसाद की कविताओं का बैकग्राउन्ड सांकेतिक रहता है, उसे भावुकों को अपने मन से तैयार कर लेना पड़ता है, यथा, प्रसाद के नाटकों के लिए रंगमंच।

जिस प्रकार प्रसाद के भाव एक सांकेतिक बैकग्राउन्ड पर चलते हैं उसी प्रकार उनकी भाषा भी एक सांकेतिक पद-विन्यास पर चलती है। आचार्य शुक्लजी ने निराला की भाषा के लिए लिखा है—उसमें 'समास-गुम्फित पद वल्लरी' और क्रियापद का लोप' है। यही बात प्रसाद की भाषा के लिए भी कही जा सकती है। अन्तर यह है कि निराला की भाषा में बँगलापन है, प्रसाद की भाषा में हिन्दीपन। यत्र-तत्र पन्त की भाषा में भी 'समास-गुम्फित पद-वल्लरी' है, किन्तु निराला और प्रसाद की भाषा में क्रियापद के लोप से जो वाक्य-जटिलता आ जाती है, वह पन्त की भाषा में नहीं, यथा—

(१) स्मिति-स्वप्न अधर-पलकों में,
उर-अंगों में सुख-यौवन।

(२) डोलने लगी मधुर मधुवात
हिला तृण, व्रतति, कुंज, तरु-पात,
डोलने लगी प्रिये! मृदु—वात
गुंज- मधु - गन्ध-धूलि-हिम-गात।
(३) अनिल—पुलकित स्वर्णांचल लोल
मधुर नूपुर ध्वनि खगकुल—रोल,
सीप—से जलदों के पर खोल।
उड़ रही नभ में मौन।

पन्त की इस भाषा में पद—संकेत नहीं, बल्कि चित्र—संकेत हैं। प्रसाद और निराला अपने पद-संकेत में चित्र को दुर्लक्ष्य कर देते हैं तो पन्त के चित्र-संकेत चित्र को और भी सजीव सुन्दर। निराला की कुछ कतिपय प्रारम्भिक कृतियों में भी यह चित्र-संकेत है। प्रसादजी में जब कि शुरू से ही पद-संकेत की विचित्रता है, निरालाजी में उनके प्रौढ़-काल में। सयाना-पन कवि को बौद्धिक बना देता है, हार्दिक नहीं। रवि बाबू इसके अपवाद हैं। हाँ, प्रसाद की अपेक्षा निराला अधिक बौद्धिक हैं, जब कि अपने प्रारम्भिक कवि-जीवन में प्रसाद की अपेक्षा अधिक हार्दिक। पद-संकेत की अपेक्षा चित्र-संकेत तो कवि के शिशु-सहज मन से ही सम्भव है। पन्त में यह सहज मन था। जीवन और कला में एक मनोरम सहजता ही पन्त के कवि की साधना थी। आज पन्त का कवि भी जटिल हो गया है जीवन की दिशा में; जब

कि प्रसाद और निराला जटिल हैं कला की दिशा में। हाँ, प्रसाद और निराला के पद-संकेतों में नाटकीय वक्रता भी है।

प्रसाद, निराला और माखनलाल ये तीनों कवि द्विवेदी-युग की भाषा और काव्य-कला के विकास हैं। प्रसाद को हम पाठकजी का विकास कह सकते हैं, निरालाजी को गुप्त और हरिऔध का, माखनलालजी को 'सनेही'जी का। छायावाद की भाषा और काव्यकला के विकास हैं पन्त और महादेवी। अतएव यह स्वाभाविक है कि द्विवेदी-युग के विकासों की अपेक्षा ये दोनों अधिक प्राञ्जल कलाकार हैं। अस्तु।

'कामयानी' में मनु का चरित्र-चित्रण ही प्रस्फुट है, जिसके नाम पर यह काव्य है उसका चरित्र-चित्रण अस्फुट है। मनु का चरित्र इसमें इतना प्रधान है कि इस काव्य को 'कामायनी' न कह-कर 'मन्वन्तर' कह सकते हैं। कामायनी (श्रद्धा) का अन्त-र्व्यक्तित्व इसमें बिन्दु-विसर्ग मात्र है। उसके अन्त:सौन्दर्य को प्रस्फुटित करने के बजाय इसमें नारी के माध्यम से बाह्य सौन्दर्य को अधिक स्थान मिल गया है। सच तो यह है कि प्रसादजी मानुषिक सौन्दर्य, विशेषत: रमणीय सौन्दर्य और तज्जन्य रोमांस के कवि थे। उनका प्राकृतिक सौन्दर्य-चित्र भी मानुषिक सौन्दर्य से ही संश्लिष्ट है। रीतिकाल में प्राकृतिक सौन्दर्य यदि उद्दीपन का उपकरण मात्र था तो प्रसाद-काव्य में वह मानुषिक सौन्दर्य का चित्रपट बन गया है। प्रसाद और पन्त हमारे साहित्य में

सौन्दर्य के महाकवि हैं किंतु पंत हैं प्राकृतिक सौन्दर्य के कवि। पंत के सौंदर्य-चित्रों में प्रकृति मनुष्य बन गई है, प्रसाद के सौंदर्य-चित्रों में मनुष्य प्रकृति बन गया है।

'कामायनी' में प्रसाद का वही मानुषिक चित्राङ्कण खूब उभरा है। 'कामायनी' के अनेक स्थलों पर उनकी कविता, चित्र-कला की तूलिका बन गई है। यथा, शरद, रजनी, मृत्यु और श्रद्धा की शोभा-समष्टि में। कवि होने के कारण प्रसादजी चित्र-कार की भाँति तूलिका का बाह्य सञ्चालन करके ही नहीं रह गये हैं बल्कि सूक्ष्म अंतर्वृत्तियों को भी आकार दे गये हैं।

आचार्य शुक्लजी ने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' में प्रसादजी के कवि-स्वरूप का थोड़े में परिपूर्ण चित्र यों उपस्थित कर दिया है— ',जीवन के प्रेम-विलास-मय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे 'उस प्रियतम' के संयोग-वियोगवाली रहस्य-भावना में—जिसे स्वाभाविक रहस्य-भावना से अलग समझना चाहिए—रमते प्रायः पाये जाते हैं। प्रेमचर्या के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं (अश्रु, स्वेद, चुम्बन, परिरम्भण, लज्जा की दौड़ी हुई लाली इत्यादि), रङ्गरलियों और अठखेलियों, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जमती थी। इसी मधुमयी प्रवृत्ति के अनुरूप प्रकृति के अनंत क्षेत्र में भी वल्लरियों के दान, कलिकाओं की मंद मुस्कान, सुमनों के मधुपात्र पर मँडराते मलिन्दों के गुञ्जार, सौरभहर समीर की लपक-झपक

पराग-मकरंद की लूट, उषा के कपोलों पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुराग-मय परिरंभ, रजनी के आँसू से भींगे अम्बर, चंद्रमुख पर शरद घन के सरकते अवगुण्ठन, मधु-मास की मधुवर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी। अत: इनकी रहस्यवादी रचनाओं को देख चाहें तो यह कहें कि इनकी मधुचर्या के मानस-प्रसार के लिए रहस्यवाद का पर्दा मिल गया अथवा यों कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूदकर असीम पर जा रही।"

अपनी उक्त स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुरूप ही प्रसादजी 'कामायनी' में एक काव्यानन्द छोड़ गये हैं, श्रद्धा या कामायनी के अन्तर्व्यक्तित्व से जीवन की गम्भीर प्रेरणा नहीं

असल में प्रसादजी जीवन के पुराने साम्राज्यवादी फ्रेम में ऐश्वर्य्य का रोमांस दे गये हैं। वे हमारे साहित्य के गोर्की या प्रेमचन्द नहीं थे, जिन्होंने एक जर्जरित राष्ट्र का अभाव-पीड़ित सुख-दुख दिया था। साथ ही, प्रसाद जी तुर्गनेव या शरद भी नहीं थे, जिन्होंने प्रसाद की सीमा के ऐश्वर्य्य के रोमान्स को जीवन का समाजवादी फ्रेम भी दे दिया है। आज की सीमा में इन्हें भी समाजवादी नहीं कहा जा सकता किन्तु पुरानी सीमा में हम इन्हें आरम्भिक समाजवादी कह सकते हैं। और प्रसाद तो हमारे कला-जगत् में अब तक के इतिहासों के ही प्रसाद(रंगीन निष्कर्ष रहे हैं, जिसके विरुद्ध आज नूतन इतिहास संघर्ष कर रहा है।

हाँ, अपनी इस अन्तिम काव्य कृति ('कामायनी') में प्रसाद ने गान्धीवाद को अपनी 'श्रद्धा' समर्पित कर दी है। श्रद्धा के हाथों में तकली (जीवन का सात्त्विक स्वावलम्बन) और हृदय में अहिंसा (समष्टि के प्रति एकात्मबोध या अद्वैत) स्थापित कर उसे गान्धीयुग की गरिमा दे दी है। गान्धीवाद की ओर प्रसाद की यह आस्था उनके बौद्धकालीन अन्त:संस्कार का सुपरिणाम है।

सब मिलाकर यह काव्य वर्तमान छायावाद का उपनिषद् है, पिछले युग के कवित्व का अन्तिम स्तूप है। नवीन युग इसके आगे है। वह युग गान्धीवाद के प्रति भी प्रश्नोन्मुख है। उसका प्रश्न वही है जो 'कामायनी' ने किसी दिन अपने चिन्तन में किया था—

जीवन का सन्तोष अन्य का
रोदन बन हँसता क्यों ?
एक एक विश्राम प्रगति को
परिकर-सा कसता क्यों ?

इस प्रश्न का समाधान प्रसाद ने श्रद्धा के गान्धीवादी व्यक्तित्व में करा दिया है, रागात्मक वैषम्यों को आध्यात्मिक सामञ्जस्य देकर। किन्तु 'भौतिक विभागों' के वैषम्य का प्रश्न आज भी बना हुआ है। गृहनीति और अन्तर्राष्ट्रीय नीति में जितना अन्तर है उतना ही गान्धीवाद और प्रगतिवाद में। अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय

नीति को भी गृहनीति में ही आना होगा, किन्तु इसके पूर्व उसे अपनी समस्याओं को प्रगतिवाद से सुलझा लेना है। प्रगतिवाद ही गृहनीति को वह स्वस्थ जीवन देगा जिसके द्वारा प्रकृतिस्थ होकर गान्धीवाद के प्रति वह 'श्रद्धा' की श्रद्धालु आत्मा पा सकेगी।

प्रेमचन्द और 'गोदान'

[१]

साहित्य-क्षेत्र में प्रेमचन्दजी के आने का सबसे बड़ा कारण उनकी पीड़ित आत्मचेतना है। साहित्य में अमर होकर उनकी वेदना ही वरदान हो गई। यदि वे सम्पन्नता के पालने में सुख की लहरियाँ लहराते आते तो साहित्य में वे अपना पूर्व नाम 'नवाबराय' ही सार्थक कर पाते। तब हम उनके सम्पूर्ण साहित्यिक प्रयत्नों में 'फिसानेआजाद' ही सुनते रह जाते। मुगल सल्तनत की जिस विरासत (उर्दू) की मूर्च्छना (टूटती हुई नवाबी) के भीतर से वे आज के जाग्रत् संसार में आये थे, उसकी रङ्गीनियाँ उनके शैशव के स्वप्निल पलकों में भले ही कभी तित-लियों-सी नाच गई हों; किन्तु प्रेमचन्द के शैशव को असमय ही सयाना हो जाना पड़ा—परिस्थितियों के काँटों पर चलने के लिए। उर्दू का प्रभाव उनके पलकों पर हिप्नोटिज्म बनकर नहीं छाया।

प्रसाद और प्रेमचन्द हमारे साहित्य में दो भिन्न परिस्थितियों के सामाजिक उदाहरण हैं। यदि कृति के भीतर कृतिकार को देखा जा सकता है तो हम प्रसाद को उनके 'चन्द्रगुप्त' नामक नाटक और प्रेमचन्द को 'गोदान' नामक उपन्यास में बड़ी आसानी से देख सकते हैं। प्रसादजी मध्ययुग के यदि राज-संस्करण थे तो

प्रेमचन्द प्रजा–संस्करण। राजतंत्र बदलते गये किंतु जिस प्रजा के जीवन में कोई बाह्य परिवर्तन नहीं हुआ, प्रेमचन्द उसी प्रजा के चित्रकार हैं। यही नहीं, प्रेमचन्द भी स्वयं वही प्रजा हैं। यह प्रजा मुग़ल-काल से अब तक अपने आँसुओं में ही जीती आई है। प्रेमचन्द उन्हीं आँसुओं के कलाकार हैं। उर्दू–साहित्य के भीतर से वे अवश्य आये हैं किंतु उनकी कला उर्दू की कला से उतनी ही भिन्न है जितनी मुग़ल चित्रकला से वर्तमान भारतीय चित्रकला। वर्तमात भारतीय चित्रकला कह देने से भी प्रेमचन्द की कला का स्पष्ट चित्र सामने नहीं आ सकता, क्योंकि वह छायावाद की तरह ही मुख्यतः भावात्मक है, अभावात्मक नहीं। अतएव, प्रेमचन्द की कला को हम नवीन राष्ट्रीय चित्रकला कह सकते हैं, जिसका आभास कनुदेसाई में मिलता है।

और प्रसाद की कला ?—प्रसाद प्रेमचन्दजी से बहुत पीछे के युग से आ रहे थे। उनकी कला को हम अजन्ता की चित्रकला कह सकते हैं जो अब अतीत की कहानी मात्र है। प्रेमचन्द ने अपनी कला का जो नवीन वातावरण दिया, उसे 'कंकाल' और 'तितली' में प्रसाद ने भी अपने ढंग से ग्रहण करने का प्रयत्न किया। प्रकारान्तर से यह प्रयत्न रवि बाबू द्वारा शरद बाबू की प्रतिभा की स्वीकृति है।

प्रसाद का मूल्य है संस्कृत–साहित्य, प्रेमचन्द का मूल है उर्दू-साहित्य। प्रसाद ने अपने विकास के लिए देश-काल से

केवल कला की प्रेरणा ली है, जिससे अजन्ता की चित्रकला ठाकुर-शैली की चित्रकला बन गई है। किन्तु प्रेमचन्द ने वर्तमान देश-काल से कला और जीवन दोनों ही लिया है। वर्तमान देश-काल से नगरों में परिवर्तन हो गया है, तरह-तरह की वेश-भूषा और तरह-तरह की इमारतों के रूप में। किन्तु देहातों में यह भिन्नता नहीं आ पाई है, वहाँ का जीवन आज भी अपनी एकरूपता में पूर्ववत् है। वह अपनी परिवर्त्तन-हीन जड़ता में बाहर से देवमूर्त्तियों की भाँति ही निश्चल है। हाँ, उसका परिवर्त्तन बाहर से नहीं, भीतर से देखा जा सकता है, उसके अन्तःस्रोत में घुल-मिलकर। समय-समय पर उसने भीतर ही भीतर जीवन के अन्तःस्रोतों के कितने ही बहाव ग्रहण किये हैं। आस्तिकता के नेतृत्व में वह किसी भी नये प्रवाह को ग्रहण कर लेता है, जैसे राम और कृष्ण का सुधा-स्रोत। फलतः वह आज भीतर ही भीतर गांधीवाद को भी ग्रहण कर रहा है। प्रेमचन्द उसी जीवन की गति-विधि के परिचायक हैं।

प्रसाद यदि पुराकालीन राजपथ के पथिक हैं तो प्रेमचन्द आज तक की देहाती पगडंडियों के बटोही। अतएव यह ठीक है कि "भविष्य में शायद भारतीय ग्रामों का इतिहास इनके उपन्यासों और कहानियों से ही पढ़ा जाय।"

अपने पथ पर चलकर प्रसाद ने पुराकाल का अध्यात्म भी दिया है, बल्कि वही उनका पाथेय बन गया है; किन्तु प्रेमचन्द

को अध्यात्म उतना अभीष्ट नहीं था जितना ऐहिक कुशल-क्षेम। प्रेमचन्द ने लौकिक प्रसंगों को अलौकिक प्रसंगों की ओट में नहीं हो जाने दिया है।

हाँ, जिस उर्दू के भीतर से वे हमारे साहित्य में आये थे, न केवल उसके कारण बल्कि वैज्ञानिक युग से पूर्व जिस समाज में उन्होंने जन्म लिया था उससे प्राप्त संस्कारों के कारण भी कुछ अन्धविश्वासों को उन्होंने कुतूहल-पूर्वक अपना लिया है, 'काया-कल्प' और 'रंगभूमि' में चमत्कारिक प्रसंग इसके उदाहरण हैं। जैसे हम किंवदन्तियों में रस लेते हैं वैसे ही प्रेमचन्दजी ने इन प्रसंगों में रस लिया है। किन्तु सामाजिक रीति-नीति में वे अन्धविश्वासी नहीं हैं। चमत्कारिक प्रसंगों में तो प्रेमचन्द जीवन-पथ पर चलते-चलते थककर मानों बच्चों की तरह कुछ कौतुक-प्रिय हो गये हैं। उनके प्रौढ़ व्यक्तित्व में बाल-सुलभ कौतुक-प्रियता कूट-कूटकर भरी थी। उनके उन्मुक्त हास्य में मानों उनका शैशव ही प्रौढ़ता की शक्ति लेकर अट्टहास करता था।

बाल-सुलभ कुतूहल के कारण ही वे बच्चों के खेल और रसिकों की महफिल का भी लुत्फ ले लेते थे। 'फिसाने आजाद' का अनुवाद भी दे देते थे। यहाँ तक कि दो क्षण चाटवाले की दूकान पर भी बैठ जाते थे। उनके भीतर उर्दू का चुलबुलापन बना हुआ था। किन्तु यह सब कुछ झाड़-पोंछकर वे अपनी

सजग स्थिति में आ जाते थे, उनका सयानापन शेखसादी, गांधी और टाल्स्टाय की बुजुर्गी को अदब देता था।

उर्दू की ख्वाबी दुनिया से प्रेमचन्द क्योंकर वस्तुजगत् में आये, इस प्रश्न के उत्तर में दो बातें सामने आती हैं—एक तो उनकी अभावग्रस्त परिस्थिति, दूसरे उस परिस्थिति की प्रेरणा से वर्तमान की ओर झाँकने के लिए समाचारपत्रों का अनुशीलन। यदि उनकी परिस्थिति भावों के ऐश्वर्य्य से ही सुसम्पन्न होती तो वे ख्वाजा हसन निजामी से आगे नहीं जा पाते। तब वे सम्पन्नवर्ग की विडम्बनाओं को बड़ी स्पष्टता से उपस्थित नहीं कर पाते और न सामाजिक रीति-नीति को सामयिक प्रकाश दे पाते। केवल उर्दू की सीमा में रहकर प्रेमचन्द मुगल-काल में होते, जैसे संस्कृत और प्राकृत की सीमा में प्रसाद हिन्दू और बौद्धकाल में थे। किन्तु प्रेमचन्द जिस युग में उत्पन्न हुए थे उसी युग के पीड़ित कलाकार हो गये। अपने ही जैसे पीड़ित राष्ट्र के परित्राण के प्रयत्नों के प्रति वे सजग रहे। जीवन के शुक्लपक्ष की ओर वे निरन्तर जागरूक रहे। जब गान्धी और टाल्स्टाय से परिचय नहीं था तब वे उर्दू के दायरे में शेख सादी की ओर मुखातिब थे। यही कारण है कि हम उन्हें शुरू से ही आदर्शवाद की ओर अग्रसर पाते हैं। सामयिक जागृतियाँ उनके आदर्शवाद को प्रकाश-पट दे देती थीं। पहिले उन्हें सामाजिक जागृति मिली थी जिसे उन्होंने 'सेवा-सदन' में दिया। इसके बाद ज्यों-ज्यों

राष्ट्रीय जागृति घनीभूत होती गई वह उनकी कृतियों में प्रधान होती गई।

उनकी परिस्थिति उन्हें जीवन की नई सतह देने में सहायक हुई और अभिव्यक्ति (कला) को उर्दू की बँधी-बँधाई सीमा से बाहर ले आने में समाचारपत्रों की प्रारम्भिक प्रेरणा। यदि समाचारपत्रों का साहचर्य न प्राप्त हुआ होता तो प्रेमचन्द उर्दू-शैली के क़िस्सा-गो मात्र रह जाते। निःसन्देह प्रेमचन्द का नवीन साहित्य का अध्ययन समाचारपत्रों से ही शुरू होता है, इसके बाद उस अध्ययन को अँगरेजी के माध्यम से अपनी ही जीवन-सतह के अन्य साहित्यों से स्थायित्व मिला। विशेषतः टाल्स्टाय ने, आगे चलकर गान्धी ने, उन्हें अधिक अपील किया। समाचारपत्रों का वातायन प्रेमचन्द ने अपने उत्तरोत्तर विकास में भी नहीं छोड़ा, उनके सभी उपन्यासों का संसार समाचारपत्रों के पृष्ठों में देखा जा सकता है।

उर्दू से प्रेमचन्द ने सिर्फ एक ही सिफत ली, व्यावहारिक जीवन में मँजी हुई उसकी भाषा। उसी भाषा को उन्होंने हिन्दी की संस्कृत-जन्य स्निग्धता दे दी है। यों कहें कि उर्दू के मुख पर हिन्दी का आलेप कर उन्होंने भाषा को एक नवीन शोभा दे दी है। उनकी इस भाषा को राजनीतिक हिन्दुस्तानी न कहकर साहित्यिक राष्ट्रभाषा कह सकते हैं। प्रेमचन्द ने साहित्यिक भाषा भी लिखी है और आम बोलचाल की भाषा भी, किन्तु कहीं भी उनकी

भाषा में हिन्दुस्तानी का अनगढ़पन नहीं है। हिन्दुस्तानी के पक्ष में दिये हुए उनके भाषणों को हम अपवाद मानते हैं। असल में प्रेमचन्द स्वयं राजनीतिक हिन्दुस्तानी का रूप-रंग स्थिर करने में असमर्थ थे। भाषा-सम्बन्धी आज के राजनीतिक विवादों में प्रेमचन्द अपने को उस अन्वेषी की तरह भूल गये जिसके घर में स्वयं वह दीपक है जिसकी माँग बाहर हो रही है। और प्रेमचन्द स्वयं अपने को उस भाषा के आदर्श के रूप में कैसे पेश कर सकते थे, यह तो दूसरों की समझदारी का काम था। सच तो यह कि हिन्दुस्तानी के नाम पर भाषा की एक गलत हुलिया लेकर साम्प्रदायिक विद्वेषी स्वयं उसे ठीक रूप में न देखना चाहते हैं, न दिखाना चाहते हैं। उर्दू के भीतर से प्रेमचन्द का हिन्दी के गद्य में आगमन, काव्य में कबीर के आगमन की भाँति ही साम्प्रदायिक विद्वेष का कोई अवसर नहीं रहने देता। फिर भी साम्प्रदायिक विद्वेष बना है, मानव स्वभाव की एक विषाक्त दुर्बलता का सार्वजनिक प्रतीक बनकर। इतिहास की नई मार्जनी से आज हमारे जीवन में जो परिष्कार हो रहा है उसी का कर्तव्य-भार भारी कर देने के लिए हमारी सामाजिक विकृतियाँ राजनीतिक क्षेत्र में नाना रूप में प्रकट हो रही हैं। खैर, देर या सबेर उनका अन्त तो होगा ही।

महात्माजी ने एक बार भाषा की सरलता की दृष्टी से 'चन्द्र-कान्ता सन्तति' की भाषा का दृष्टांत दिया था। प्रेमचन्द उसी

भाषा के नूतन विकास हैं, प्रेमचन्द से उसे साहित्यिक गरिमा मिल गई है। उन्नत जनता प्रेमचन्द की भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करेगी। अन्त:प्रांतीय आदान-प्रदान से वह उसी भाषा का शब्द भण्डार और बढ़ा देगी। यदि हमारा संबंध अन्तर्राष्ट्रीय हो गया तो आदान-प्रदान का क्षेत्र और भी विस्तृत हो जायगा। तब आज की हिन्दी-उर्दू का संकीर्ण प्रश्न सिन्धु में बिन्दु होकर लुप्त हो जायगा। आज तो हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में न केवल अन्त:प्रान्तीय साहित्य बल्कि विश्व-साहित्य के लिए भी माध्यम होने जा रही है, युग की चेतनाओं से वह शक्ति-संचय कर रही है और किसी भी अवरोध से वह गति-हीन नहीं होगी।

हम जब प्रेमचन्द की भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में आगे रखते हैं तो यह नहीं समझ लेना चाहिए कि हमारे साहित्य की भाषा उसी में सीमित हो जायगी। हाँ, अपने अन्त:प्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय विकास के साथ वह जनसाधारण के लिए साहित्य का माध्यम अवश्य बनेगी, किन्तु साहित्य की भाषा विविध कलाकारों की विविधता भी पाती रहेगी।

गद्य में प्रेमचन्द ने राष्ट्रभाषा का एक रूप दे दिया है, इधर हिन्दी के गीतिकाव्य में जो नये-नये कवि आ रहे हैं; वे कविता को भी भाषा की सहज स्वाभाविकता दे रहे हैं। इनके आदर्श वे उर्दू कवि हैं जो सहज हिन्दी लिख रहे हैं। गीतिकाव्य की

भाषा में सरलता लाने के लिए प्रयत्नशील सर्वश्री बच्चन, नरेन्द्र और सुमन का उल्लेख पीछे हो चुका है। सुमन उस सरलता में शक्ति ला रहे हैं। भावों में बच्चन अभी पिछले स्वप्नों की खुमारी से जग रहे हैं, सुमन जग चले हैं, नरेन्द्र उस खुमारी से अभी जग ही रहे थे कि कारागार-प्रवासी हो गये।*

हम देखते हैं कि हिन्दी के गद्य और पद्य में भाषा परिवर्त्तन का एक द्वार खोल रही है, जिसके द्वारा साहित्य की कला दैनिक जीवन में प्रवेश कर रही है। प्रश्न यह है कि पन्त, महादेवी, निराला और प्रसाद की भाषा कहाँ रहेगी? सच तो यह कि नई भाषा के कवि और लेखक जनता के कलाकार रहेंगे और पन्त, महादेवी, इत्यादि, कलाकारों के कलाकार। जनता के कलाकार ही अपने माध्यम से जनता के मानसिक क्षितिज को प्रमुख कलाकारों के साहित्य तक पहुँचाएँगे। प्रमुख कलाकार जनता के लक्ष्य रहेंगे, माध्यमिक कलाकार उपलक्ष्य। इनमें भी जिनमें सबसे अधिक कलात्मक प्राञ्जलता होगी, उन्हींको जनता के कलाकार ग्रहण करेंगे। आज गद्य में प्रेमचंद को और काव्य में पंत और महादेवी को जनता के कलाकारों ने अपना लिया है।

तो, अब हम फिर प्रेमचन्द की ओर मुड़ें। प्रेमचन्द की परिस्थितियाँ रेगिस्तान की तरह शुष्क और संतप्त थीं किन्तु उसमें भी काव्य की हरियाली ओसिस की तरह खिल पड़ी है। उनके

* अब वे सिनेमालाइन मे हैं!

जीवन के इस पार्श्व की ओर सहृदय समीक्षक प्रकाशचन्द्र गुप्त की इन पंक्तियों से ध्यान जाता है—"गोदान लिखने में प्रेमचन्द की कला पूर्णरूप से जाग्रत थी। घटनाओं पर, मानव-चरित्र पर वही अटल अधिकार भाषा में कुछ और भी रस और कविता का आभास आ गया है। ग्राम्य जीवन के प्रति कुछ अधिक उल्लास दीखा, जैसे हिन्दी की नवीन काव्यधारा में कुछ वे भी रँग गये हों।"

प्रकाशचन्द्रजी प्रश्न करते हैं—"जीवन के हेमन्त में इस वृद्ध साहित्य-सेवी के हृदय में वसन्त का यह गान कहाँ से फूट निकला?" इसका उत्तर यह कि प्रेमचन्द नागरिक नहीं, ग्रामीण थे। साहित्य के नागरिक संस्करण में वे ग्रामीण सरसता के भी प्रतिनिधि थे। प्रत्येक कहानीकार के भीतर एक कवि भी जाग्रत रहता ही है, फिर प्रेमचन्द में तो स्वभावतः शैशव का तारुन्य था। 'बसन्त का यह गान' उनके जीवन के हेमन्त में ही नहीं, जीवन के प्रारम्भ से ही है। उनके ग्राम्य जीवन में अभाव और दारिद्र्य है, किन्तु वह प्राकृतिक वैभव से वञ्चित नहीं है। खेतों की हरियाली, आमों की बगिया, सावन की नदिया रूखे-सूखे ग्रामीण जीवन को सरसब्ज किये रहती है। इसी लिए ग्राम्यजन उमगकर फाग खेल लेते हैं, हुलस कर दीपावली मना लेते हैं। ग्रामगीतों की दुनिया भला कवित्व-शून्य कैसे रह सकती है! वह दुनिया कवित्व को हृदय में गुप्त धन की तरह सँजोये हुए चल रही

है। यद्यपि उसका जीवन सुरक्षित नहीं है, मुस्लिम-काल में यदि वह मुग़लों और पठानों से धर्मत्रस्त था तो आज राजनीतिक सभ्यता से अर्थग्रस्त है, तथापि प्रकृति अपनी नित-नूतन ऋतुओं से उसके हृदय को दुलराती रहती है।

ग्राम्य जीवन में जो कुछ भाव और अभाव है, प्रेमचन्द ने उसे बिना किसी दुराव के सामने रख दिया है। यदि वे नगरों में ही पलकर बड़े हुए होते तो प्राकृतिक कवित्व उनसे बहुत दूर छूट जाता। जिन्दगी के मेज़ पर शायद एकाध गुलदस्ता ही दिखाई देता, मानों भावुकता का कृत्रिम कवित्व।

[२]

प्रेमचन्दजी की कृतियों के दो पार्श्व हैं—(१) सामाजिक और (२) राजनीतिक। दोनों पार्श्व जागृति की दिशा में चले हैं। राजनीतिक जागृति से पूर्व जो सामाजिक जागृति आई, हमारे कथा-साहित्य में प्रेमचन्द ही उसके प्रथम साहित्यकार हुए। राजनीतिक जागृति के आने पर उसके भी प्रथम साहित्यकार वे ही हुए। सामाजिक जागृति में प्रेमचन्द आर्य्यसमाज के साथ चले, राजनीतिक जागृति में गांधी-युग की कांग्रेस के साथ। इस तरह वे उन्नीसवीं सदी और २० वीं सदी, इन दो युगों के कलाकार थे—हाँ, १९ वीं सदी के अन्तिम चरण के, बीसवीं सदी के द्वितीय चरण के।

इन दो प्रगतियों के द्योतक उनके उपन्यासों के दो खण्ड इस प्रकार किये जा सकते हैं—

(१) सामाजिक—'सेवा-सदन', 'वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'कायाकल्प', 'निर्मला', 'ग़बन'।

(२) राष्ट्रीय—'प्रेमाश्रम', 'रङ्गभूमि', 'कर्मभूमि'।

सामाजिक उपन्यास उनके राष्ट्रीय उपन्यासों की बुनियाद हैं। हमारा सार्वजनिक जीवन जिन सामाजिक संस्कारों का सुपरिणाम या दुष्परिणाम है, या यों कहें लोकदृष्टि के सामने हम जिन सामाजिक साँचों में ढलकर आते हैं, प्रेमचन्द के सामाजिक उपन्यास उन्हीं साँचों के दिग्दर्शक हैं। वे हमारे जीवन का फाउन्ड्री डिपार्टमेंट दिखलाते हैं, जिसके टाइप के ही व्यक्ति हमारे सामने से दिन-रात गुजरते रहते हैं। किंतु प्रेमचन्द के ये उपन्यास दिग्दर्शक ही नहीं, संशोधक भी हैं। गलत साँच (संस्कारों) अथवा गलत टाइपों (व्यक्तियों) को रद्द करके वे निर्म्माण का नया मॉडल भी देते हैं। यों कहें कि, निरीक्षण और सुधार उनके उपन्यासों के अन्तर्बाह्य नेत्र हैं। सुधार प्रेमचन्द ने किसी खास धार्मिक संस्कृति को सामने रखकर नहीं सुझाये हैं, बल्कि उन्होंने देश-काल की पार्थिव आवश्यकताओं का ही सामयिक निर्देश कर दिया है। किसी एक संस्कृति या धर्म को न लेकर हितोपदेश के लिए उन्होंने जीवन के नीति-सूत्रों को आदर्श का बन्धन बनाकर उपस्थित किया है।

हाँ, उन्होंने जीवन का वेदान्त नहीं, बल्कि जीवन का व्याकरण दिया है।

जर्जरित हिन्दू-समाज का कायाकल्प करने के लिए आर्य्य समाज जो नवीन सामाजिक चेतना लेकर आया, सामाजिक सुधारों के लिए प्रेमचन्द ने उसे अपना लिया। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दू-समाज के भीतर वे नवशक्ति तो चाहते थे किन्तु शक्ति को भी दुर्बलता की तरह ही संकीर्ण नहीं बना देना चाहते थे। अतएव, आर्यसमाज से उन्होंने हिन्दू-समाज के लिए नवसृजन ही लिया, अन्य समाजों के लिए उसका संहारात्मक उद्वेग नहीं। वे उसके मण्डन के साथ थे, खण्डन के नहीं। आगे चलकर उनके इसी रुख को राष्ट्रीय जो हो जाना था।

जब तक प्रेमचन्दजी के सामने राष्ट्रीय भारत नहीं आया तब तक वे सामाजिक सुधारों में सामाजिक पैमाने पर चल रहे थे, जब राष्ट्रीय भारत सामने आया तो उनके राष्ट्रीय उपन्यासों में उनका सामाजिक अंग देशव्यापी समस्या का एक अन्तरंग बनकर सम्मिलित हो गया। यह राष्ट्रीय भारत महात्मा गान्धी का अपूर्व प्रतिष्ठान है। प्रेमचन्द इस प्रतिष्ठान में आर्य्यसमाज के परिष्कृत-तम प्रतिनिधि होकर सम्मिलित हो गये थे। यहाँ उनके जीवन का व्याकरण (नीति-सूत्र) महात्मा गान्धी के वेदान्त (आध्यत्मिक आदर्शवाद) की अभिव्यक्ति पा गया। प्रेमचन्द के शेखसादी और टालस्टाय की परिणति उसी में हो गई।

अपने उपन्यासों में प्रेमचन्दजी ने समाज और राष्ट्र का जो प्रतिनिधित्व किया है, वही अपनी कहानियों में भी। उनके उपन्यास यदि प्रबन्धकाव्य हैं तो कहानियाँ मुक्तक हैं। उनकी कहानियाँ भी सामाजिक और राष्ट्रीय खंडों में विभाजित की जा सकती हैं, अपने-अपने दायरे के उपन्यासों के साथ ये बड़ी नौकाओं के पीछे छोटी नौकाओं की भाँति सम्बद्ध हैं।

उनके उपन्यासों और कहानियों का एक तीसरा खंड भी निश्चित किया जा सकता है, उन रचनाओं का जो केवल गार्हस्थिक या पारिवारिक हैं। उनमें कोई सार्वजनिक समस्या नहीं, बल्कि दैनिक जीवन के अभाव-अभियोग, हर्ष-विषाद और राग-विराग के द्वन्द्व हैं। 'कायाकल्प' इसी कोटि की रचनाओं में बृहत्काय है। असल में प्रेमचन्द मूलतः हिन्दी के शरच्चन्द्र थे, दोनों एक ही जमीन की उपज थे, ठेठ गँवई-गाँव की खाद से। किन्तु जिस प्रकार मूल संस्कार बनाये हुए एक ही गोद की सन्तानों में आकार-प्रकार, रूप-रंग और गति-विधि का अन्तर पड़ जाता है उसी प्रकार प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र के उत्तरोत्तर विकास में अन्तर पड़ता गया है। शरच्चन्द्र मुख्यतः परिवार और उसके सार्वजनिक रूप समाज के प्रतिनिधि थे, किन्तु प्रेमचन्द समाज के भी सार्वजनिक रूप राष्ट्र की ओर बढ़ गये थे। फिर भी सम्पूर्ण जीवन को देखने का मूल-दृष्टिकोण दोनों का एक ही है—ग्रामों के निम्नवर्ग तथा उन्हीं के नागरिक संस्करण मध्यवर्ग के भीतर से।

शरद का मुख्य प्रयत्न आज की सामाजिक विकृतियों के प्रति मनोवैज्ञानिक दृष्टि जगाकर सनातन-समाज की संस्कृति की उज्ज्वलता का प्रकाशन और उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना है। किन्तु प्रेमचन्द का प्रयत्न यहीं तक सीमित नहीं, वे शरद के कृतित्व के ऊपर सार्वजनिक वातावरण का शेड लगा देते हैं, हमारा पारिवारिक और सामाजिक जीवन जैसा है वह इस शेड के भीतर से वैसा ही धूमिल या उज्ज्वल आलोक बाहर फेंकता है। हाँ, प्रेमचन्द सार्वजनिक वातावरण का शेड ही लगाकर नहीं रह जाते, वे इस शेड का सदुपयोग करना भी सिखाते हैं, सुधारों द्वारा। यहाँ वे पारिवारिक और सामाजिक जीवन के सौन्दर्य के प्रति सहानुभूति बनाये रखकर उनसे उसी प्रकार तटस्थ हो जाते हैं जिस प्रकार सनातन-समाज से आर्य्यसमाज। हाँ, आर्य्यसमाज जब कि मूलसमाज से केवल तटस्थ रहता है, प्रेमचन्द तटस्थ-आत्मीयता रखते हैं। प्रेमचन्द सार्वजनिक जगत की जिन-जिन सामयिक दिशाओं की ओर बढ़ते गये वहाँ वे यही तटस्थ-आत्मीयता बनाये रहे। केवल तटस्थ रहकर वे सुधारक ही हो सकते थे, समाजदग्ध प्राणी नहीं। आर्य्यसमाज सनातनसमाज से जब कि नाखून की तरह कटकर अलग हो गया था, प्रेमचन्द उसी के आँसू की तरह निकल कर सार्वजनिक जगत को देखने-दिखाने लगे। इसी लिए वे भारत का हृदय दे सके। यों, जिस परिवार के प्राणी शरच्चन्द्र थे, उसी परिवार के प्राणी प्रेमचन्द भी। हाँ,

शरद के आँसू बाहर नहीं निकले, वे घरों के एकान्त कक्ष में ही अपने मूक स्पन्दन से सामाजिक जीवन को उद्वेलित करते रहे।

एक ही गृह के दो बन्धुओं में से जिस प्रकार एक गृह-व्यवस्था का भार वहन करता है, दूसरा उसी गृह के संस्कार लेकर सार्वजनिक जीवन में भाग लेता है, ठीक उसी प्रकार साहित्य में शरद और प्रेमचन्द ने घर और बाहर का प्रतिनिधित्व किया है।

आर्य्यसमाज की जागृति से पूर्व के सामाजिक जीवन से चलकर गांधी-युग की कांग्रेस तक पहुँचकर 'गोदान' में प्रेमचन्द फिर उसी करुण गृहस्थी में लौट गये, जहाँ से वे बाहर चले थे। एक विकल विहंगकी भाँति जीवन के सम्बल की खोजमें सार्वजनिक जगत् के विस्तीर्ण आकाश में उन्होंने यात्रा की थी, किन्तु जब फिर अपने बसेरे की ओर लौटे तो देखा कि बाहरी दुनिया की इतनी हलचलों के बावजूद भी इस गृहस्थी में अभाव ही अभाव है; जाग्रत दिवस का स्वर्ण प्रकाश प्रासादों के शिखरों को झिलमिलाता हुआ होरी की कुटिया में अन्धकार (पुञ्जीभूत ट्रेजडी) ही छोड़ता चला गया है।

[३]

'गोदान' प्रेमचन्दजी के उपन्यासों का तीसरा खंड है, अकेले अपने में ही पूर्ण। यह उनकी कला की अन्तिम पूर्णिमा है। उनके अब तक के कृतित्व का सारांश है। केवल इसे देख लेने पर हम अब तक के प्रेमचन्द को पा जाते हैं।

' इसमें प्रेमचन्दजी ने हमारी अब तक की गार्हस्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रगति का 'सर्वे' किया है जिसका निष्कर्ष निकलता है—एक निःसहाय सूनी ट्रेजडी। अब तक जो कुछ देखा-सुना है उसे और न देखने-सुनने के लिए होरी की आँखें सदा के लिए मुँद जाती हैं। 'गोदान' में होरी स्वयं प्रेमचन्द ही तो हैं।

प्रेमचन्दजी अपने अन्य उपन्यासों में कोई न कोई कार्य्यक्रम लेकर उपस्थित हुए हैं, किन्तु 'गोदान' में उन्होंने कोई कार्य्यक्रम नहीं दिया है और न उन्होंने कोई मार्ग-प्रदर्शन ही किया है। अब तक का समग्र जीवन—क्या गार्हस्थिक, क्या सामाजिक, क्या राजनीतिक, क्या नागरिक, क्या ग्रामीण—जैसा है उसे उन्होंने इसमें जस-का-तस उपस्थित कर दिया है। हाँ, चरित्र-चित्रण का रुख़ बदल गया है, किन्तु भाषा और शैली वही टकसाली है जिससे हम प्रेमचंदजी के अन्य उपन्यासों में परिचित होते आये हैं

इस उपन्यास के धरातल पर एक ही राष्ट्र के भीतर सबके जीवन के प्रवाह अलग-अलग स्रोतों में बह रहे हैं, उनमें कोई सामञ्जस्य नहीं है, वे एक दूसरे से विशृङ्खल हैं, एक दूसरे से खंडित हैं। पश्चिम में जैसे सबके क़दम एक गति में सधे हुए हैं, वैसे हमारे नहीं। इस विविध चित्रखंड में देहात—एक शब्द में 'होरी'—ही वह केंद्रबिंदु है जहाँ से हम अपने चारों ओर के अन्य वातावरणों को परख सकते हैं। क्लब, पार्टी, पिकनिक,

नाटक, कौंसिल, आफिस, कालेज, मिल, ये सब नागरिक वातावरण की सरसराहट मात्र हैं। केंद्र-बिन्दु पर खड़े होकर हम देखते हैं—"पीठ पीछे समय, सभ्यता, समाज, अपनी अविरल तीव्रगति से निकले जा रहे हैं।"

यदि सचमुच हमारा कोई समाज और राष्ट्र है तो वह 'गोदान' के केंद्र-बिंदु में है। उसी पर वैभव और नागरिक जीवन का दारमदार है। नागरिक जीवन का भार देहात उसी तरह ढो रहा है जिस प्रकार मिर्ज़ा के शिकार को वह ग़रीब वनवासी।

स्वयं ग्रामवासी होने के कारण प्रेमचन्दजी ने ग्रामीण जीवन को बड़ी बारीकी से देखा-दिखाया है। उन्होंने दिखलाया है कि ग्रामीण भी निरे सन्त नहीं हैं। उनका श्रमिक जीवन सरल अवश्य है किंतु उनकी व्यावहारिकता भी अपने अभावों की राजनीति (जो शोषण का अनिवार्य्य परिणाम है) लेकर वक्र हो गई है। वे उनका कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्ष लेकर चले हैं। कहीं तो वे कृष्ण पक्ष में घिर गये हैं, कहीं शुक्ल पक्ष में खिल गये हैं। इसमें बड़े ही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वन्द्व दीख पड़ते हैं। इतने स्पष्ट रूप से ग्रामीण जीवन को उन्होंने किसी अन्य उपन्यास में नहीं उपस्थित किया है। अन्यत्र कहा जा चुका है कि प्रेमचंदजी के आदर्श देवताओं के रहे हैं, किंतु 'गोदान' में उन्होंने पहिली बार मनुष्य को उसके हाड़-मांस में उपस्थित किया है, शरद की तरह उसे उसकी दुर्बलताओं

में ही दिव्य व्यक्तित्व दे दिया है। यह व्यक्तित्व देहात के भीतर होरी-दम्पती के रूप में है। प्रेमचन्द ने नगरों में भी कुछ अच्छे व्यक्तित्व देखे हैं, यथा, मिर्ज़ा ख़ुर्शेदअली, डा॰ मेहता, मालती, गोविन्द। किन्तु ये समाज के वे सबजेक्टिव चरित्र हैं जिन्होंने जीवन की डायरी से कुछ 'हिन्ट्स' लेकर अन्त में अपने जीवन को सन्तोष दे लिया है। ये अपनी इकाई में अब तक की लोकप्रगति की ऐतिहासिक सूचना नहीं हैं। होरी-दम्पती ही वह ऐतिहासिक सूचना हैं जिसमें अब तक की लोकप्रगति अपना खोखलापन दिखला गई है। यह दम्पती इतिहास का करुण उच्छ्वास है।

प्रेमचन्दजी ने अपने अभीष्ट पात्र होरी में अर्थ और धर्म का द्वन्द्व दिखलाया है। होरी का धर्म पराजित नहीं होता किन्तु अर्थ दारिद्रय बनकर उसे ग्रस लेता है। धर्म के प्रतीक से प्रेमचंदजी ने प्राचीन आदर्शों को श्रेयस्कर बने रहने दिया है, और आर्थिक समस्या को युग का मुख्य प्रश्न बनाकर आगे कर दिया है।

आज के अर्थग्रस्त जीवन में आत्मा के उत्थान के साधन—शिक्षा, संस्कृति, भगवद्भक्ति, दान-पुण्य, स्नेह-सहयोग, ये सब रूढ़िमात्र रह गये हैं, एक बँधे हुए अभ्यास की तरह। एकमात्र आर्थिक प्रश्न सबकी छाती पर साँप बनकर बैठा हुआ है। क्या नागरिक जीवन, क्या ग्रामीण जीवन, क्या राष्ट्रीय जीवन, क्या अन्तर्राष्ट्रीय जीवन, उसी एक विषधर के विष से जर्ज्जरित है।

वह विष कहीं वैभव की मदिर मूर्च्छना बन गया है तो कहीं दारिद्र्य की दारुण यन्त्रणा।

होरी आज की पूँजीवादी विषमता में एक निःसहाय पुकार है। उसकी ट्रेजडी में सारा उपन्यास आर्थिक प्रश्न की ओर एकोन्मुख हो गया है। कल तक प्रेमचन्द इस प्रश्न को कांग्रेस के राष्ट्रीय कार्य्यक्रम के माध्यम से हल करते रहे। किन्तु 'गोदान' में प्रेमचन्दजी ने इसका कोई हल नहीं दिया। उन्होंने तो सिर्फ दिखला दिया है कि आज भी हमारे जीवन की गति-विधि क्या है। जब तक पुरानी राजनीतिक समाज-व्यवस्था बनी हुई है तब तक यह प्रश्न हल होने का नहीं। गाँवों में उसी तरह होरी और धनिया पिसते रहेंगे; नगरों में रायसाहब, मिस्टर खन्ना, मिस्टर तंखा उसी तरह शराफ़त के चोंगे में अपनी छिपी पशुता को सम्मान्य बनाये रखेंगे। किन्तु इस युग का अर्थचक्र कुछ ऐसा सर्वग्रासी है कि उससे न तो दानवता के उपासक ही सुखी हैं और न मानवता के उपासक। आर्थिक आवश्यकताओं के घेरे में हमारा तमाम जीवन एक विडम्बना बन गया है। पूँजी का विषम वर्गीकरण एक दूसरे को मनुष्यता की सतह पर मिलने का अवसर ही नहीं देता। परस्पर मिलते हैं तो अपने-अपने स्वार्थों के ट्रिक लेकर।

प्रेमचन्द यही सब दिखलाकर बिदा हो जाते हैं। जीवन के स्वस्थ विकास के लिए जिस व्यक्तित्व को समुचित सामाजिक

वातावरण की आवश्यकता है, उसे होरी-दम्पती के रूप में छोड़ जाते हैं। उसे ही लेकर हमें युग की समस्याओं पर सोचना-विचारना है। उसे हम आत्मा और शरीर (जीवन और जीवन के साधन) के प्रश्न-रूप में अङ्गीकार कर सकते हैं।

'गोदान' प्रेमचन्दजी के जीवन की सबसे बड़ी हाय है। अब तक उन्होंने चरित्र को व्यक्तिगत साधना के रूप में देखा था। मिर्जा, मेहता, मालती, गोविन्दी, अब भी इसी रूप में इस उपन्यास में सम्मिलित हैं, प्रेमचन्दजी की पुरानी चित्र-कला के नमूने होकर। हाँ, पहिले उनका दृष्टिकोण केवल नैतिक था, किन्तु अब 'गोदान' में आर्थिक हो गया है। 'गोदान' शब्द तो अब तक की नैतिकता, धार्मिकता, दार्शनिकता का एक प्रतीक मात्र रह गया है। इस उपन्यास का आर्थिक पक्ष संकेत करता है कि आज धर्म के लिए पथ कहाँ रह गया है!—"धनिया यन्त्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लाइ और पति के ठण्डे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली, महाराज! घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।" इस प्रकार आज की आर्थिक ट्रेजडी में धन ही जीवन का मोक्ष बन गया है, प्राणी नगण्य हो गया है। वह अर्थ और धर्म दोनों ही द्वारा शोषित है।

असल में 'गोदान' से प्रेमचन्द युग की वास्तविकता की ओर आ रहे थे। नैतिक जीवन की आस्था अब भी उनमें शेष थी

किन्तु उसकी संकटग्रस्तता को भी उन्होंने देख लिया था। प्रेमचन्द जी की नैतिक श्रद्धा को सन्तोष गांधीवाद से मिलता रहा है, किन्तु आर्थिक विषमता को वे एक विकट समस्या के रूप में प्रगतिशील युग के द्वार पर छोड़ गये हैं। यदि वे जीवित होते तो गान्धीवाद और समाजवाद के बीच कदाचित् एक सन्धि-शृङ्खला बन जाते।

——

निराला

पीछे हम दो कलाकारों से मिल आये हैं—प्रसाद और प्रेमचन्द। ये दोनों कलाकार कला के क्षेत्र में दो भिन्न युगों के प्रतिनिधि हैं—अतीत और वर्तमान। इसके अतिरिक्त हमारे सामने दो कलाकार और आते हैं—निराला और जैनेन्द्र। निराला और जैनेंद्र ने प्रेमचंद के वातावरण से प्रेरित होकर अपनी कथा-कृतियों में वर्तमान युग की रचना भी देने का प्रयत्न किया है। इस दिशा में इन दोनों कलाकारों ने यत्किञ्चित् राष्ट्रीय और मुख्यत: सामाजिक रचनाएँ दी हैं और बजाय प्रेमचंद के शरच्चंद्र की ओर इनका झुकाव अधिक है। निराला की 'निरुपमा' स्पष्ट रूपसे शरद्‌बाबू की 'दत्ता'(हिंदी में 'विजया') की प्रतिच्छाया है। शरद्‌बाबू की मूलकृति पढ़ लेने पर 'निरुपमा' बिलकुल फीकी लगने लगती है। किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि निराला ने वही दिया जो शरद्‌बाबू ने। 'निरुपमा' तो एक संकेत-बिंदु होकर निराला के सामाजिक धरातल को सूचित करती है। जमीन वही है, कदम उनके अपने हैं—'अप्सरा' 'प्रभावती', 'अलका', 'कुल्ली भाट', इत्यादि। यही बात हम जैनेंद्र के लिए भी कह सकते हैं। निराला और जैनेंद्र दोनों ने शरद और प्रेमचंद की तरह सदियों के भीतर से आते हुए

संस्कारों के समाज को लिया है किंतु शरद उसे नवीन मनोवैज्ञानिक दर्शन दे गये, प्रेमचंद गांधीवादी दर्शन। भारतीय संस्कृति दोनों के भीतर है किंतु शरद में उसका सामयिक रूपांतर हो गया है, गांधीवाद में उसका मूल नैतिक रूप ही रह गया है।

निराला और जैनेंद्र ने दोनों को अलग-अलग न लेकर कुछ अपने मन के समन्वय किये हैं। निराला शरद और विवेकानंद को लेकर चलते हैं, जैनेंद्र शरद और गांधी को। साथ ही, निराला और जैनेंद्र छायावादी भी हैं। दर्शन की दिशा में छायावादी होना स्वभाविक है। इनकी दार्शनिकता में कवित्व है, अपने-अपने मन के समन्वय में रविबाबू के माध्यम से।

निराला और जैनेंद्र ने वर्तमान युग में अपनी उपस्थिति अवश्य दी है। किंतु वे मुख्यतः पुरोमुख हैं, उसी दिशा के 'फिलासफर' हैं। दार्शनिकता इनका भोजन बन गई है—दैनिक जीवन से लेकर साहित्य तक में। अंतर यह है कि दार्शनिकता ने निराला को क्षत्रिय बना दिया है, जैनेंद्र को ब्राह्मण। अथवा यों कहें, ये हमारे साहित्य में शाक्त और वैष्णव हैं। निराला यदि विवेकानंद के वेदांत के साहित्यिक हैं तो जैनेंद्र गांधीवाद के साहित्यिक, पिछले धार्म्मिक कथाकारों की भाँति ही उसी परम्परा में जैनेंद्र नूतन कथाकार हैं। वे मुख्यतः आइडियलिस्ट हैं, कभी-कभी रियलिस्ट होने के प्रयत्न

में अपना बीभत्स मूड भी दे देते हैं। शरद के आइडियलिज्म को उन्होंने गान्धीवाद की गुरुता दे दी है, किन्तु शरद के रियलिज्म को वे अपना नहीं सके हैं, केवल उसकी वकालत करते हैं। कथाकृतियों में ही नहीं, स्वयं शरच्चन्द्र पर लिखा हुआ जैनेन्द्र का लेख इसका स्वतः प्रमाण है। असल में जैनेन्द्र में जीवन के भीषण प्रसंगों से आतंकित दार्शनिक शरणागति मात्र है।

मध्ययुग के ये दार्शनिक साहित्यिक (निराला और जैनेन्द्र) आज के कराल युग में अतीत की रक्षा के लिए अपनी-अपनी शैली में सचेष्ट हैं। निरालाजी अतीत के ऐश्वर्य की ओर उन्मुख हैं, जैनन्द्रजी उस युग के त्याग की ओर। निराला उस युग के राज-समाज की पंक्ति में हैं, जैनेन्द्र उस युग के सन्त कवियों की संगति में। इसी लिए जब कि निरालाजी गान्धी-युग से भी पीछे के व्यक्ति हैं, जैनेन्द्रजी गांधी-युग के प्राणी। साहित्य में हम देखते हैं कि निरालाजी प्रसाद के सहवर्गीय हैं, जैनेन्द्रजी प्रेमचन्द के सहयोगी। भाषा, शैली और विचार में प्रसाद और निराला बहुत कुछ एकाकार हो जाते हैं, किन्तु जैनेन्द्रजी प्रेमचन्द से भिन्न भी हो जाते हैं। उन्होंने प्रेमचन्द के भीतर व्याप्त मुख्यतः गांधीवाद की दार्शनिक आत्मा को ही साहित्य में अग्रसर किया है। गद्य में जैनेन्द्र का वही स्थान है, जो अपने काव्यों, लेखों, संस्मरणों में महादेवी का। प्रसाद, निराला, महादेवी और जैनेन्द्र, इन इन सबमें करुणा को स्थान

प्राप्त है। किन्तु प्रसाद और निराला की करुणा में दया-दाक्षिण्य है, महादेवी और जैनेन्द्र की करुणा में समर्पण! प्रसाद और निराला में सहानुभूति है, महादेवी और जैनेन्द्र में समवेदना।

तो, निरालाजी प्रसाद के साथ हैं, जैनेन्द्रजी प्रेमचन्द (काव्य-भूमि में महादेवी) के साथ हैं। निरालाजी गांधी-युग में नहीं रह सके तो जैनेन्द्रजी प्रगतिशील युग में। कारण, विश्व-व्याप्त समस्या के समाधान के इनके साधनों में भिन्नता है। किन्तु प्रेमचन्द गांधी-युग में ही नहीं ठहर गये। 'गोदान' से वे गांधी-युग के सामने एक मूक प्रश्न भी छोड़ गये। जैनेन्द्र और महादेवी जब कि मुख्यतः आध्यात्मिक हैं, प्रेमचन्द आध्यात्मिक उतने नहीं थे जितने कि ऐहिक। अवश्य ही प्रेमचन्द ने जीवन में नैतिकता को अंगीकार किया है किन्तु पार्थिव जीवन की पाशविकता को मानव-सौन्दर्य देने के लिए। मानव उनके सामने 'गोदान' में आया, इसके पूर्व उनके सामने दानव और देवता ही थे। इनसे भिन्न 'मानव' का भी एक अपना अस्तित्व है, यह उन्होंने पुरानी परिपाटी के संस्कारों में नहीं जान पाया था, अतएव वे मानव को देवता बनाकर ही उपस्थित करते आये। किन्तु 'गोदान' में उन्होंने जाते-जाते मानव को देख लिया। उसमें मानवता का जो मूक प्रश्न वे छोड़ गये हैं, उस ओर प्रगतिशील युग बढ़ रहा है। किन्तु यह प्रगतिशील युग केवल राजनैतिक मनुष्य को लेकर चल रहा है,

सांस्कृतिक मानव को नहीं। 'गोदान' के पूर्व प्रेमचन्द जिस मानव को देवता बनाकर उपस्थित करते रहे उसे शरद शुरू से सांस्कृतिक मानव बनाकर उपस्थित करते रहे। प्रेमचंद का वह दैवी मनुष्य गांधी की परिधि की ओर जा रहा था, शरद का सांस्कृतिक मानव रवीन्द्र की परिधि की ओर। 'गोदान' में प्रेमचंद ने शरद के सांस्कृतिक मानव का मृत्यु-विवर्ण मुख दिखला दिया। कहा जा चुका है कि शरद वर्गहीन लेखक थे, प्रेमचंद वर्गवादी (पीड़ितवर्गीय) लेखक। प्रेमचंद ने 'होरी' के रूप में दिखला दिया है कि किस तरह शरद का सांस्कृतिक मानव भी अभाव-ग्रस्त परिस्थितियों में पड़कर वर्ग-वैषम्य का शिकार हो सकता है। होरी के जीवन पर क्या प्रकाश पड़ता है, इसे हम पन्तजी की 'पीताम्बर' नामक कहानी में देख सकते हैं। क्या होरी, क्या पीताम्बर, क्या इस श्रेणी का कोई भी पात्र, सभी अपनी मुखाकृतियों में अब तक के इतिहास के इजहार बन गये हैं। प्रेमचंद ने जिस मानव को चित्रवत् उपस्थित किया है, पन्त ने उसी को 'युगवाणी' दी है। यों कहें कि प्रेमचन्द के कलाकार ने प्रगतिशील युग को अपनी मौन उपस्थिति दी है,पन्त के कवि ने मुखरित होकर। प्रगतिशील युग को अपनी उपस्थिति देकर भी इन दोनों कलाकारों ने निरे राजनैतिक मनुष्य का नहीं, बल्कि सांस्कृतिक मानव का प्रतिनिधित्व किया है। इनका मानव गान्धीवाद और मार्क्सवाद के समन्वय से नवनिर्माणोन्मुख है।

हम देखते हैं कि पिछली पीढ़ी के साहित्यिक दायरे को छोड़कर हमारे नये साहित्य में प्रगतिशील युग के निर्देशक कलाकार के रूप में प्रेमचन्द और पन्त आये हैं। प्रेमचन्द गान्धीवाद की ओर से, पन्त छायावाद की ओर से। एक प्रकार से इन दो कलाकारों में गान्धी और रवीन्द्र ने नवीन अभिव्यक्ति ग्रहण कर ली है।

अब हम निरालाजी से साक्षात्कार करें।

प्रसाद की तरह ही निरालाजी की प्रतिभा भी प्राय: बहुमुखी है। नाटक और चम्पू को छोड़कर, साहित्य के शेष वे सभी अङ्ग निरालाजी ने दिये हैं जो प्रसादजी ने। दोनों का मूल-संस्कार संस्कृत-साहित्य में है। निराला का विकास मुख्यत: बँगला के माध्यम से हुआ, प्रसाद का विकास मुख्यत: द्विवेदी-युग की खड़ीबोली से। निराला का माध्यम खड़ीबोली के सम्पर्क में आया, प्रसाद का माध्यम बँगला के सम्पर्क में। इसी लिए दोनों की भाषा और शैली में बाह्यान्तर हैं, किन्तु अभ्यन्तर दोनों का एक है। दोनों कवि और विवेचक हैं। दोनों की आधार-भूमि अतीतकालीन है। दार्शनिक दोनों हैं, किन्तु एक की दार्शनिकता पर बौद्धधर्म्म की छाप है, दूसरे की दार्शनिकता पर हिन्दूधर्म्म की। ये पूर्व-मध्यकाल और उत्तर-मध्यकाल के कलाकार हैं। दार्शनिक होते हुए भी इनमें ऐहिक आकर्षण अधिक है; इनकी आत्मा (दार्शनिकता) शरीर (पार्थिवता) से संचलित होती है, जब कि महादेवी और जैनेन्द्र की पार्थिवता दार्शनिकता से। वे निर्गुण

की ओर हैं। निर्गुण ने जैसे सगुण रूप पा लिया था, वैसे ही प्रसाद और निराला की दार्शनिकता ने ऐहिक स्वरूप ले लिया है। फलतः इनके काव्य में शारीरिक विभूतियों की प्रधानता है; प्रसाद में सौंदर्य्य-प्रधान, निराला में शक्ति-प्रधान। निराला की अपेक्षा प्रसाद में स्वाभावतः कोमलता-मधुरता अधिक है।

हमारे साहित्य में मध्यकालीन सीमा के भीतर से वर्तमानकाल में आनेवाले कवियों का एक प्रतिनिधि-मंडल इस प्रकार बनता है—हरिऔध, मैथिलीशरण, प्रसाद, निराला। एक ही युग के कवि होते हुए भी इनके साहित्य में अपनी-अपनी आकृति-प्रकृति का अंतर है। जैनेन्द्र और महादेवी को भी हम उसी युग में रख सकते हैं, किंतु उक्त प्रतिनिधि-मंडल तथा इन दोनों में लक्ष्य की दिशाओं का पार्थक्य है। प्रतिनिधि-मंडल के कवि मध्ययुग की विशेष सामाजिक सीमाओं की ओर उन्मुख हैं, किंतु जैनेन्द्र और महादेवी के लिए देश, काल और समाज असीम सृष्टि के माध्यम मात्र हैं।

उधर प्रतिनिधि-मंडल के कवि अतीत की सांस्कृतिक गुफाओं में प्रवेश करते गये, इधर प्रेमचंद और पंत वर्तमान के संघर्ष की ओर बढ़ते गये। इस ओर-छोर के बीच जैनेन्द्र और महादेवी मध्य-बिंदु हैं।

[२]

हमारे वर्तमान काव्य-साहित्य में निराला का वही स्थान है, जो रीतिकाल में आचार्य्य-कवि केशवदास का। वे यदि उस युग

के रीतिशास्त्री थे तो निराला छायावाद के। जिस तरह हम मध्ययुग के काव्यों का वर्गीकरण कर रीति-काल को अलग कर लेते हैं उसी तरह छायावाद-काल के काव्यों का भी वर्गीकरण किया जाय तो निरालाजी छायावाद की कविता में नवीन रीतिकाल के उद्भावक सिद्ध होंगे। वर्तमानकाल में आचार्य केशवदास के प्रतिनिधित्व को उन्होंने आधुनिकता दे दी है, यही उनकी विशेषता है। बँगला के माध्यम से आधुनिक विश्वकाव्य की कला-प्रगति से परिचित होने के कारण यह प्रतिनिधित्व रोमैन्टिक हो गया है। हिन्दी, बँगला और अँगरेजी इन तीन संस्कारों से संयुक्त होकर निराला का वह काव्य-व्यक्तित्व बना है।

प्रकाश बाबू के शब्दों में, निःसन्देह निराला 'टेकनीशियन' हैं। उन्होंने छन्द, भाषा और अलंकार में नये-नये प्रयोग किये हैं, जिसमें सांकेतिक पदावली और मुक्त छन्द लोगों में कुतूहल उत्पन्न करते हैं। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में—"निरालाजी की शैली कुछ अलग रही। उसमें लाक्षणिक वैचित्र्य का उतना आग्रह नहीं पाया जाता, जितना पदावली की तड़क-भड़क और पूरे वाक्य के वैलक्षण्य का।"

छन्द और भाषा निरालाजी की बिलकुल निजी चीज़ रही। उनकी कविता को किसी भी शब्दकोष या व्याकरण से नहीं समझा जा सकता, क्योंकि शब्दों और वाक्यों का उन्होंने इतना स्वतन्त्र प्रयोग किया है कि उनकी शैली अटपटी मालूम होती है। शब्दों

को उन्होंने प्राय: प्रतीकवत् लिया है (यथा, भर, पर, पल, रंग पर रंग), वाक्यों को बँगला का बन्धान दिया है, छन्दों को अँगरेजी का स्वर। फलत: हिन्दी-संस्कारों के भावुकों को निराला की कविता समझने के लिए एक विशेष अभ्यास की आवश्यकता आ पड़ती है। जो इसके लिए अपने को प्रस्तुत नहीं करना चाहते उनके लिए निराला की कविता अवाञ्छनीय हो जाती है। एक बार किसी ने निराला की कविता की दुरूहता की उपमा ब्राउनिंग की रचनाओं से दी थी। जिज्ञासा किये जाने पर निराला ने कहा था, ब्राउनिंग की अपेक्षा मिसेज ब्राउनिंग की रचना उन्हें ज्यादा पसन्द है। इससे हम निरालाजी की कलाभिरुचि का एक सूत्र पा जाते हैं।

खड़ीबोली को इस युग के सभी कवियों ने अपने अपने संस्कारों से प्राप्त जीवन के भीतर से कुछ विशेष कवित्व दिया है—हरिऔधजी ने 'प्रिय-प्रवास', गुप्तजी ने 'साकेत', पन्तजी ने 'परिवर्त्तन', निरालाजी ने 'तुलसीदास', महादेवीजी ने गीतिकाव्य। इन काव्यों में निरालाजी का 'तुलसीदास' जितना दुरूह है, उतना कोई अन्य काव्य नहीं; साथ ही पन्तजी का 'परिवर्त्तन' जैसा उज्ज्वल प्राञ्जल है, वैसा कोई अन्य काव्य नहीं। एक दूसरी दिशा में हम देखते हैं कि 'परिवर्त्तन' में पंत ने छायावाद की काव्यकला को जितना निखार दिया है, उतना ही महादेवी ने गीतिकाव्य में मर्म्मस्पन्दन भर दिया है। कला

का चमत्कार निराला में है, कला का सौंदय पंत में, कला का प्राण महादेवी में। और 'प्रसाद' में ?—यह सब कुछ अलसाया हुआ है।

[३]

'तुलसीदास' निराला ने ऐसे समय में लिखा जब दुर्भाग्यवश देश में साम्प्रदायिक विद्वेष का अन्धअहि फुफकारने लगा। किन्तु निराला के इस काव्य से राष्ट्रीय प्रगति को कोई क्षति नहीं होगी, कारण, एक तो यह काव्य इतना दुर्बोध है कि निरालाजी की व्याख्या से ही समझ में आ सके तो आये, दूसरे यह काव्य साम्प्रदायिक परिधि से बहुत उँचे एक मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक स्तर पर उठा है।

'तुलसीदास' अन्तर्मुख प्रबन्ध-काव्य है, इसलिए कि इसका कथानक बाह्य न होकर अन्तर्गुह्य है। कथानक कहानी की भूमि पर न चलकर कविता की भूमि पर चला है। यह कथा-बन्ध नहीं, भाव-बन्ध है। इसकी निबन्ध-शृंखला ने इसे प्रबन्ध-काव्य बना दिया है। 'कामायनी' भी इसी अर्थ में प्रबन्ध-काव्य है। छायावाद-शैली के काव्य मुख्यतः भाव-परख होते ही हैं, क्योंकि वे अन्तःकथा कहते हैं। जीवन के व्यापारों से नहीं, बल्कि जीवन की अनुभूतियों से रसोद्रेक करते हैं। अनुभूतियों के बड़े सूक्ष्म धरातल पर यह काव्य ('तुलसीदास') पद-निक्षेप करता है। इसको ग्रहण करने के पूर्व पहिले अपने को भी

इसको सतह के अनुकूल बना लेना पड़ता है, क्योंकि यह केवल भावों का नहीं, प्रज्ञा का कवित्व है। भाव इसमें आयतन मात्र हैं, जैसे कथा—भाव के लिए।

एक चिन्तन (आदि), एक अन्तर्द्वन्द्व (मध्य), एक प्रत्यावर्त्तन (अंत) लेकर यह काव्य पूरा हो जाता है। इस निबन्ध-शृंखला (क्रम-बद्धता) में कवि की कला-कुशलता खिल पड़ी है। तुलसीदास के मानसिक उतार-चढ़ाव का यह काव्य सफल चलचित्र है। किसी फिल्म में यह तुलसीदास के व्यक्तित्व-निरूपण में प्राण डाल सकता है।

निःसन्देह इस काव्य का चित्रमय भाव-बन्ध अच्छा है, किन्तु शब्द और वाक्य-बन्ध जटिल है। एक तो भाव इतने सूक्ष्म सांकेतिक, तिस पर भाषा इतनी गहन, मानो आत्मा का बीहड़ शरीर! पद-पदपर पुस्तक के अन्त में दी हुई टीका देखनी पड़ती है, जिससे मेरे जैसे साधारण पाठकों को कवि की गतिविधि का कुछ आभास मिल जाता है। हिन्दी में इतना क्लिष्ट काव्य कोई नहीं, न 'प्रियप्रवास' न 'साकेत', न 'कामायनी'। आखिर निरालाजी रामचन्द्रिकाकार केशवदास के आधुनिक प्रतिनिधि ही तो ठहरे!

यह काव्य निरालाजी की कला-कुशलता की सफलता भी है और विफलता भी। विफलता स्वयं निराला की ओर से नहीं, पाठकों की ओर से। एक बार किसी तरह पढ़ लेने पर दुबारा पढ़ने को जी नहीं चाहता। यहाँ हमें निराला की प्रबन्ध-शैली

की अन्य कृतियों का स्मरण आता है—'सरोज-स्मृति', 'पञ्चवटी-प्रसंग', 'राम की शक्ति-पूजा।' इनमें से किसी एक की अभि-व्यक्ति (शैली) में यह काव्य इतना दुर्गम नहीं रह जाता।

निरालाजी सहज और जटिल दोनों ही प्रकार की कला के कलावन्त हैं, जैसे हरिऔधजी सहज और जटिल भाषा के। एक ओर उनका 'भिक्षुक' है, दूसरी ओर स्वयं यह 'तुलसीदास'। इन दोनों के मध्य में उनकी कुछ कविताएँ वीथिका भी बन गई हैं; अधिकांशत: 'परिमल' की कविताएँ, अंशत: 'अनामिका' की कविताएँ। इनमें न तो निरी सहजता है और न निरी जटिलता, बल्कि एक मनोहर गम्भीरता है। और 'गीतिका ?'—वह तो 'तुलसीदास' की पादुका है। प्रबन्ध-काव्य में निराला जितने जटिल हो सकते हैं उसका उदाहरण है 'तुलसीदास', गीतिकाव्य में जितने जटिल हो सकते हैं उसका उदाहरण है 'गीतिका'।

यह भी ज्ञात होता है कि उनकी रचनाएँ उनकी विभिन्न मन:स्थितियों (मूड्स) के संयोजन से विभिन्न रूप-रंग और आकार-प्रकार धारण करती हैं। उनकी यह मन:स्थितयाँ कभी तो भिन्न भिन्न रचनाओं में अलग-अलग व्यक्त होती हैं, कभी एक ही रचना में गुँथ जाती हैं। फलत: किसी एक ही कविता का कोई पार्श्व जटिल हो गया है, कोई पार्श्व सहज; कहीं शुरू में, कहीं अन्त में। यथा, 'राम की शक्ति-पूजा' शुरू में जटिल है, किन्तु वह सर्वांशत: एक सी नहीं है।

[४]

निरालाजी शुरू से ही क्लिष्ट कवि नहीं रहे हैं, उनका आरम्भ सहज मन से हुआ था। 'अनामिका' का प्रथम संस्करण इसका उदाहरण है। 'परिमल' तक उनका सहज मन ही गम्भीर होता गया। 'परिमल' के बाद वे केशवदास की भाँति कला के संघर्ष में पड़ गये। 'पन्त' और 'पल्लव', 'मेरे गीत और कला' (प्रकारान्तर से पन्त-काव्य का स्थिति-विवेचन), इसका उदाहरण है। निरालाजी को ऐसा लगा कि लोग उनके कवि की उपेक्षा कर रहे हैं, पन्त को अकारण महत्त्व दे रहे हैं, अतएव वे असन्तुष्ट हो उठे। एक तो उनका व्यक्तित्व यों ही ओजस्वी है (जो उनके कवित्व में भी स्पष्ट है) तिस पर यह रोष! बेचारी गरीब हिन्दी के शलभों के लिए प्रदीप की यह ज्वाला! (क्षमा करें, मैं प्रदीप की ज्वाला ही कहूँगा, दीपक की भभक नहीं, क्योंकि निराला जी में प्रतिभा की ज्योति है, यद्यपि उसकी 'लौ'—आत्मलवलीनता—बहुत तेज हो गई है)। निरालाजी की खीझ यहाँ तक बढ़ी कि महात्मा गान्धी के यह संकेत करने पर कि हिन्दी में रवीन्द्रनाथ का अभाव है, (प्रभाव तो है ही), उन्हें महात्मा से अपनी कविताएँ पढ़ने या सुनने के लिए प्रस्ताव करना पड़ा। 'प्रबन्ध-प्रतिमा' में इस विषय पर निरालाजी का संस्मरणात्मक लेख देखा जा सकता है। निरालाजी की इस हलचल को हम क्या कहें, आत्मविश्वास का अभाव तो उनमें है नहीं, अन्यथा

वे इतनी रचनाएं कैसे देते ? फिर भी मैं निरालाजी से कहना चाहूँगा कि दीपक क्या अपने प्रकाश के प्रदर्शन के लिए ही जलता है ? उसे तो अपनी साधना में ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। लोग जुगुनुओं से भी अपना पथ आलोकित देखना चाहते हैं, फिर वे तो प्रदीप्त हैं । शायद निरालाजी को कुछ स्नेह चाहिए, वे तो मोमबत्ती की तरह ही जल-बल नहीं जाना चाहते। निरालाजी की इस विवशता को पन्तजी ने बड़ी ही सहृदयता से देखा, 'युगवाणी' में उन्होंने निरालाजी को पर्य्याप्त स्नेह दे दिया, यद्यपि उन्हीं पन्त की काव्य-त्रुटियों पर निरालाजी पाँच सौ पृष्ठ की पुस्तक लिख डालने के लिए उत्साह प्रदर्शित कर चुके हैं, जो कि अपनी ही पृष्ठ-संख्या के भार से बोझिल है। शायद यह कहा जा सकता है कि निरालाजी प्रतिभा के प्रदीप भी हैं और आवेग के इञ्जन भी। अपने आवेग का बैलेंस ठीक रखने के लिए आवश्यकता से अधिक फोर्स को बाहर फेंक देते हैं और अपनी प्रतिभा की ज्योति को आगे करके अपनी शक्ति का मार्ग आलोकित देखना चाहते हैं। निरालाजी का कवि यदि ड्राइवर की तरह सचेष्ट है (वह अवश्य सचेष्ट होगा, क्योंकि वे संस्कृति की संजीवनी लेकर चले हैं), तो लोकयात्रा के पथ में वे दूसरों के अस्तित्व का भी उतना ही ध्यान रखेंगे जितना आत्म-अस्तित्व का। दूसरों की अवहेलना उनकी ही आत्मविस्मृति की सूचना देगी।

यह प्रखर जागृति का युग है, सौरमण्डल पृथ्वी पर उतर आया है, मेदिनी के स्तर-स्तर को भेदकर प्रकाश की तीव्र किरणें अग-जग को प्रकाशित कर रही हैं, फिर कोई किसी के साथ अंधेर कैसे कर सकता है! न कोई निरालाजी के साथ अन्याय कर सकता है और न निरालाजी किसी के साथ अन्याय कर सकते हैं। निरालाजी तो इस सत्य को अपने आध्यात्मिक वेदान्त से भी जानते हैं, फिर चिन्ता क्यों?

[५]

निरालाजी समर्थ कलाकार हैं। वे कला की नव-नव नवीनताओं की ओर उन्मुख हैं। कला के संघर्ष में पड़कर जहाँ उनकी प्रतिभा जटिल हो जाती है, वहाँ वह कलाके अच्छे 'रेकार्ड्स' स्वीकार भी कर लेती है। प्रगतिशीलता की माँग में इधर उनकी कुछ सहज कविताएँ इसी की सूचना हैं। ऐसी कविताएँ 'नभ-तम की-सी तारिका सुघर' होकर अपनी सहज आभा में फूट पड़ी हैं।

निरालाजी अपनी वर्णनात्मक कविताओं में बड़ी अच्छी नाटकीय दृश्य-योजना उपस्थित करते हैं; पहिले वे पटोद्घाटन करते हैं, फिर क्रम-क्रम से पट-परिवर्तन। 'तुलसीदास' में यही दृश्य-योजना अन्तर्पटों में परिवर्तित हो गई है। वे अन्तर्बाह्य जगत् के कुशल डाइरेक्टर हैं। कला के संघर्ष में यदि उन्हें

बौद्धिक व्यायाम न करना पड़ता तो वे इस युग के श्रेष्ठ लोकप्रिय कवि होते।

निरालाजी ने मुक्त छन्द प्रचलित कर अपनी बाधा-बन्धन-विहीनता का परिचय दिया है। किन्तु टेकनिक के बन्धान में वे बड़े चुस्त हैं, अवश्य ही उनके तार अत्यधिक कसे जाने के कारण कभी-कभी व्यर्थ ही टूट भी जाते हैं, यथा, 'वनबेला' में। ऐसे अवसरों पर उनकी उसी संघर्ष-जन्य मनःस्थिति का परिचय मिलता है। असल में निराला एक ओर साहित्य में लड़ रहे हैं, दूसरी ओर समाज में; उन्हें दोनों ओर प्रहार ही प्रहार देख पड़ता है। किन्तु निरालाजी ने विवेकानन्द के वेदान्त से शक्ति की ही नहीं, सेवा (विनम्रता) की भी दीक्षा ली है, इसे भूल जाने के कारण ही वे संघर्ष को प्रधानता दे बैठते हैं। एक दार्शनिक कवि के लिए यह आत्मविस्मृति कहाँ तक शोभाजनक है? क्या इससे तपोभंग नहीं होता?

एक ओर निरालाजी कला के संघर्ष में पड़ गये, दूसरी ओर पन्तजी जीवन के संघर्ष में। निराला का संघर्ष बहिर्मुख है, पन्त का संघर्ष अन्तर्मुख। निराला जीवन को छोड़कर कला पर केन्द्रित हो गये, पन्त कला को छोड़कर जीवन पर। निरालाजी ने समय-समय पर जिस तरह कला का निमन्त्रण स्वीकार किया है, उसी तरह वे क्या युगजीवन का भी निमन्त्रण स्वीकार करेंगे? वे जिस मध्ययुग में बैठकर अपनी कला की चित्रशाला सजा रहे

रविबाबू अपनी काव्यकला को नहीं भूल सके, उसी प्रकार पन्त अपनी चित्रकला को। मूर्त्तिकला का आधार पाकर उनकी चित्रकला सुदृढ़ हो गई है। जिस प्रकार चित्रकला में भाव गतिशील रहते हैं, उसी प्रकार पन्त की मूर्त्तिकला में चित्र गतिशील हो गये हैं, निश्चल मूर्त्ति ही नहीं। 'युगवाणी' में 'गंगा की साँझ', 'जलद', 'प्रलय-नृत्य' इसके उदाहरण हैं। भविष्य के स्वप्नों में बैठकर 'युगवाणी' में यत्र-तत्र पन्त ने ललित कला का नवीन दृढ़ रूप भी दिया है, यथा, 'मधु के स्वप्न', पलाश', तथा अन्य प्राकृतिक चित्रों में।

•

'गुञ्जन' से युगान्त' तक हम मुख्यत: कलाकार पन्त से ही परिचित रहे हैं। उनमें उनका विवेचक प्रच्छन्न रहा है। 'ज्योत्सना' में भी उनका कलाकार ही प्रमुख रहा है, विवेचक माध्यम। किन्तु 'युगवाणी' में विवेचक ही प्रमुख है, कलाकार माध्यम। इस भिन्नता के होते हुए भी 'युगवाणी' में वे ही भाव, विषय, आलम्बन और विचार हैं जो 'ज्योत्स्ना' में; दोनों के शरीरों में अन्तर है, शिराओं में नहीं;—वह रूप-नाट्य है, यह मुक्तक काव्य। उसमें गीत और गद्य हैं, इसमें गीत-गद्य। इस गीत-गद्य (युगवाणी) द्वारा पन्त ने काव्यकला के कुछ नये टेकनिक सामने रखे हैं। पन्त की पिछली ललित कला में जो आकुंचन है, वही इस नई वस्तुकला में भी। पिछली कला में यदि पन्त वनीत की तरह जम गये हैं तो इस कला में बर्फ की तरह। पन्त में स्वभावत:

आस्फालन नहीं है, यदि उनमें कहीं कुछ आस्फालान है तो वह उनकी जमी हुई तरलता का उन्मेष है। आस्फालन की कला के कवि निराला हैं। पन्त की आकुञ्चित कला छोटे से छोटे छन्दों में चली गई है; निराला की स्फीत कला मुक्त छन्द की ओर। पन्त की रुचि कला के 'शार्टकट' की ओर है, निराला की रुचि 'लांगडिजाइन' की ओर। पन्त एक सुस्थ कलाकार हैं, निराला उद्बुद्ध।

'युगवाणी' में पन्त पहिली बार टेकनीशियन होकर आये हैं। अपनी ललित कला की रचनाओं में भी पन्त टेकनीशियन हैं, किन्तु उनमें काव्यात्मकता (रसात्मकता) इतनी प्रधान है कि उनके कलाकारिता को विरल करके हम नहीं देख पाते। 'युगवाणी' में काव्यात्मकता इतनी कम है कि उसमें उनका कला-प्रयोग छिप नहीं पाता।

'युगान्त' में पन्त निर्देशक कलाकार थे, 'युगवाणी' में व्याख्याता कलाकार, 'ग्राम्या' में दर्शक कलाकार। 'युगान्त' में पन्त ने अपने कवि को जगाया है, 'युगवाणी' में समुदाय को उद्बोधित किया है, 'ग्राम्या' में समुदाय के एक विशेष अंग को उपस्थित किया है। आगे ?

'युगान्त' में पन्त ने छायावाद की कला को अन्तिम श्री दी, 'युगवाणी' में उसकी अवशेष-श्री (पतझर) दी, 'ग्राम्या' में 'युगवाणी' को चित्रवाणी दी। 'युगवाणी' में चित्रकला,

मूर्तिकला का मॉडल रही है; 'ग्राम्या' में मूर्तिकला, चित्रकला में ढल गई है।

हिमालय की शोभा-श्री ने पन्त को कलाकार बनाया, कालाकाँकर के ग्राम्य जीवन ने उन्हें मानव-समाज के निकट पहुँचाया। अंशतः 'गुञ्जन' तक पन्त का एक काव्य-संस्कार पूर्ण हो जाता है, 'युगान्त, और 'युगवाणी' से नये काव्य-संस्कार, फलतः नये जीवन-संस्कार की पन्त द्वारा लोकसाधना शुरू होती है। 'ग्राम्या' में आकर उस साधना ने अपनी पहिली सिद्धि प्राप्त कर ली है।

एक युग में 'पल्लव' के जिस भावप्रवण कवि को हम देख चुके है वही कवि इतने स्वाभाविक ग्राम्यचित्र भी दे सकता है, इस पर आश्चर्य्य इसलिए नहीं होता कि पन्त में सभी तरह की कला की क्षमता है।

कला की दृष्टि से 'कर्मवीर' ने 'ग्राम्या' पर एक प्रकाश डाला था। उसी के शब्दों में—"ग्राम्या पके हुए धान से लहलहे खेत के समान है। उसमें ग्रामीण जीवन की आर्द्रता है। 'एस्थीट' कवि ने कई सुन्दर चित्र-राग आलेखित किये हैं। भाषा और भी सरल, ओजवती और सजीव हो उठी है। कई जगह ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग है जो 'लोकल कलर' उत्पन्न करता है।...... 'धोबियों का नाच', 'चमारों का नाच', 'कहारों का रुद्रनर्तन'; इफेक्ट की दृष्टि से अत्यन्त ललित चीजें है।......'भारतमाता' 'ग्रामवासिनी', 'अहिंसा', 'चरखा-गीत' सुन्दर संघगीत (कोरस) हैं।"

यद्यपि पन्त 'ग्राम्या' में एक दर्शक कलाकार हैं, किन्तु 'युगवाणी' के उनके व्याख्याता व्यक्तित्व ने इसमें भी अपना कण्ठ मिला दिया है। एक चित्र देकर मानो चित्र-परिचय के रूप में कवि वक्तव्यकार हो गया है। कहीं-कहीं वह सुसंगत लगता है, किन्तु कहीं-कहीं 'ग्राम्या' के चित्र-नियोजन 'मैजिक लैन्टर्न लेक्चर' की सीमा में चले गये हैं। इसकी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि चित्र अपनी सजीवता में स्वयं बोलते हैं।

पन्त में जो आकार-प्रियता है वह चित्ररूप में 'ग्राम्या' में प्रकट हुई है। सार्वजनिक रूप में उनका वैयक्तिक असंतोष भी व्यक्त हुआ है।

'ग्राम्या' के नृत्य-चित्र उदयशंकर की याद दिलाते हैं। उदयशंकर के नृत्य, कला के क्षेत्र में एक पुरानी संस्कृति का प्रति करना चाहते हैं, किसी नवीन जीवन का नहीं। किन्तु पन्त के नृत्य-चित्र युग-सत्य का निर्देश करना चाहते हैं, एक नवीन जीवन के लिए। पुरानी क्षेत्र को लेकर पन्त ने उसे देखने का अपना दृष्टिकोण स्वतंत्र रखा है, इसी लिए उन्हें वक्तव्य द्वारा अपने दृष्टिकोण को अवगत कराना पड़ा है।

'ग्राम्या' की काव्यकला को हम 'युगान्त' और 'युगवाणी' का संयोग कह सकते हैं, चित्र और वाणी का सहयोग। 'युगान्त' में पन्त ने नई कला के लिए चित्र-साधना की थी, 'युगवाणी' में उस कला के लिए शब्द-साधना। इन दोनों साधनाओं ने

'ग्राम्या' में संयुक्त होकर अपनी एक गति-विधि निश्चित कर ली है। सब मिलाकर 'युगवाणी' का वक्तव्य-प्राधान्य 'ग्राम्या' में कम हो गया। पन्त कविता की ओर आ गये हैं, आगे पन्त की कला इस नई कविता का क्या रूप धारण करेगी, यह अनुमेय है। ('ग्राम्या' के बाद उनकी ये पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं—'स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, 'उत्तरा', 'युग-पथ')।

[४]

'युगान्त' में पन्त मुख्यतः गांधीवाद की ओर थे, जीवन के चिन्तन में अन्तर्मुख थे। उस समय पन्त सृष्टि की सुन्दरता को आत्मा के भीतर से झाँक रहे थे, यथा,—

चित्रिणि ! इस सुख का स्रोत कहाँ
जो करता नित सौन्दर्य्य-सृजन ?
'वह स्रोत छिपा उर के भीतर'
क्या कहती यही सुमन-चेतन ?

—('युगान्त' में 'तितली')

किन्तु 'युगवाणी' से वह आत्मचिन्तन आत्मा में ही केन्द्रित न रहकर शरीरधारी भी हो गया। फलतः आत्मा की कला शरीर की कला भी पा गई। किन्तु 'युगवाणी' में भी पन्त गांधीवाद को भूले नहीं हैं, उस पर उनकी एकान्त श्रद्धा है, 'बापू' शर्षक पहिली कविता कवि का आत्मोद्‌घाटन कर देती है, यद्यपि उसे 'युगवाणी' के प्रारम्भ का पूर्व-पृष्ठ देकर वे आज

के द्वन्द्वों को उसके आगे उपस्थित कर देते हैं, उसे मन्दिर में छोड़-कर जीवन के गृह-प्रांगण में आ जाते हैं। आज पन्त सूक्ष्म चेतन (आत्मा) को सुन्दर आकार (समाजवाद) देने को अधिक उत्सुक हैं। विज्ञान ने जिस आत्मा को खण्डित कर दिया है, पन्त ने उसी आत्मा को पुनर्जन्म देने के लिए नवीन मानवी मूर्त्ति-याँ गढ़ दी हैं। आज भी वह सगुण-जगत् का ही कवि है, किन्तु अब वह समाजवादी है, इसी लिए उसकी गठन बदल गई है।

आज के समाधानों को पाने के लिए कवि के 'पल्लव' में ही एक तड़फड़ाहट आ गई थी। कवि यही कहकर समाधान-हीन रह गया था—

दैव ! जीवन भर का विश्लेष, मृत्यु ही है निःशेष !!

यह कवि का पिछले आस्तिक समाज के भीतर निराश निश्वास था। 'युगान्त' से उसके भीतर एक नवीन आशा का सञ्चार हुआ, वह समाजवाद की ओर उन्मुख हुआ। 'युगान्त' के बाद 'युगवाणी' में कवि ने उसी नवीन आशा को शक्ति देने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार युग का व्यक्तित्व ग्रहण कर लेने के बाद 'ग्राम्या' में कवि ने जीवन को समाजवादी निरीक्षण और गांधीवादी संरक्षण दिया। असल में पन्त न तो समाजवाद से विमुख हैं और न गांधीवाद से; वे दोनों के सम्मुख हैं। दोनों के भीतर जो सत्य हैं उन्हें स्वीकार करके दोनों की अपूर्णताओं की एक

दूसरे से पूर्त्ति चाहते हैं, यों कहें, वे आत्मा की भूख भी मिटाना चाहते हैं और शरीर की भूख भी। मुख्यतः पन्त में आत्मा की भूख के लिए अधिक आस्था है, इसी लिए वे उसके प्रति प्रश्नोन्मुख होकर भी नतमस्तक हैं, ('ग्राम्या' की 'महात्माजी के प्रति' और 'बापू' शीर्षक कविताएँ इसकी सूचक हैं, साथ ही हम यह भी देखते हैं कि पन्त ने समाजवादी युग के किसी यन्त्र का स्वर न सुनाकर 'चरखा' का स्वर ही सुनाया है)। 'युगवाणी' देकर भी पन्त 'संकीर्ण भौतिकतावादियों के प्रति' प्रश्न-सजग हैं—

"आत्मवाद पर हँसते हो रट भौतिकता का नाम ?
मानवता की मूर्त्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम ?"

पन्त शारीरिक आवश्यकताओं को स्वीकार करके भी उसी को प्रधान नहीं मान लेते, बल्कि आत्मवाद और भूतवाद के संयोजन मे एक नवीन संस्कृति का उद्भव चाहते हैं, साथ ही मनुष्य की अनिवार्य्य शारीरिक भूख-प्यास के प्रति क्षमाशील दृष्टिकोण चाहते हैं—

मानव के पशु के प्रति
हो उदार नवसंस्कृति ।—('युगवाणी')

पन्त जिस तरह संकीर्ण भौतिकवादियों को नहीं चाहते, उसी तरह संकीर्ण अध्यात्मवादियों को भी। ये दोनों अपने-अपने जिन मत्यों की लकीर पकड़कर चल रहे हैं, पन्त उन्हीं के ठीक अभि-

प्रायों का परस्पर समन्वय चाहते हैं। अभी तो ये दोनों 'अनमिल आखर' हो रहे हैं।

'ज्योत्स्ना' में पन्त ने उसी समन्वय को भविष्य के पलकों में इस प्रकार प्रत्यक्ष किया है—"पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थिपिंजर में भूत या जड़ विज्ञान के रूप रंग भर हमने नवीन युग की सापेक्षत: परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया।" और "इसी लिए इस युग ('ज्योत्स्ना' में निर्दिष्ट भावी युग) का मनुष्य न पूर्व का रह गया है, न पश्चिम का रह गया है; पूर्व और पश्चिम दोनों मनुष्य के बन गये हैं।"

यह पन्त का सापेक्षिक दृष्टिकोण है। किन्तु पन्त का एक निरपेक्ष दृष्टिकोण भी है। वे अपनी दार्शनिक सूक्ष्मता में बहुत ऊपर उठ जाते हैं। एक ओर तो सापेक्षिक दृष्टिकोण से वे यह कहते हैं—

'सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन।'

दूसरी ओर उनका यह निरपेक्ष दृष्टिकोण भी है—

सुख-दुख के पुलिन डुबाकर
लहराता जीवन-सागर

सुख दुख से ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलम्बन।

—('गुंजन')

+ + +

मानव ! कभी भूल से भी क्या सुधर सकी है भूल ?
सरिता का जल मृषा, सत्य केवल उसके दो कूल ?
आत्मा औ' भूतों में स्थापित करता कौन समत्व ?
वहिरंतर आत्मा-भूतों से है अतीत वह तत्त्व।
भौतिकता आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल,
व्यक्ति-विश्व से, स्थूल-सूक्ष्म से परे सत्य के मूल।

—('युगवाणी')

पन्त का यही निरपेक्ष दृष्टिकोण सापेक्षिक दृष्टिकोण को सन्तुलन देता है। सुख-दुख तथा आत्मा और भूत को पन्त का कवि निमित्त-मात्र मानता है, इसी लिए उनके प्रति अनावश्यक लोभ न रखकर उनका समुचित संकलन कर लेता है। यों कहें कि, उभय द्वन्द्वात्मक तत्त्वों के परे एक परम सत्य को पा लेने के लिए कवि अपने निरपेक्ष दृष्टिकोण में एक तटस्थ द्रष्टा है, हाँ, उसकी तटस्थता मनुष्य की आत्मसाधना की ओर अधिक ममतालु है, इसी लिए 'ग्राम्या' में 'आधुनिका' की अपेक्षा 'ग्रामनारी' को कवि ने अपनी ममता से सँवार दिया है।

[५]

अब हम फिर महादेवी की ओर मुड़ें।

आज विश्व के रंगमंच पर जो समस्याएं चल रही हैं, उनसे महादेवी अनभिज्ञ नहीं हैं। कहती हैं—"इस भौतिकता के कठोर धरातल पर, तर्क से निष्करुण जीवन की हिंसा-जर्जरित समष्टि में आये हुए युग को देखकर स्वयं कभी कभी मेरा व्यथित मन भी अपनी करुण भावना से पूछना चाहता है, 'अश्रुमय कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी रे!"

वे आज की समस्याओं के बीच एक सूचना देती हैं—जीवन की वैयक्तिक साधना की। जीवन के नेपथ्य में उनकी कविता आकाश-वाणी है। पन्त ने 'पल्लव' में जिस नेपथ्य की ओर संकेत किया है—

न जाने नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन!

महादेवी ने उसी नेपथ्य के संकेतों (रहस्यों) को गा दिया है। निःसन्देह महादेवी की कविता न तो जीवन के प्रहर्ष में है, न जीवन के संघर्ष में। उसमें तो केवल उस चेतन की आराधना है जो जीवन के इतने हर्ष-विमर्षों का संचालक है।

महादेवी सांस्कृतिक कवि हैं। उनकी कविता शरद्‌बाबू की सुरबाला और राजलक्ष्मी जैसी वैष्णवी पात्रियों के अमृतकण्ठ की गीत-वाणी है। प्रसाद की राज्यश्री और देवसेना जैसी बुद्ध-

कालीन आत्माएँ भी उस गीतवाणी में मानो अपने को पा जाती हैं।

युग युग से भारतीय नारी ने अपनी तपस्या से जिन अश्रुओं को जोतिम्मय कर दिया है उन्हीं अश्रुओं का आद्र गान ही तो महादेवी का गीतिकाव्य है।

आज 'बाजार-दर' की तरह उठते-गिरते परिवर्त्तनशील जीवन के जिन हर्ष-विमर्षों को लेकर हम लोकयात्रा कर रहे हैं, और 'बाजार दर' में सन्तुलन न होने के कारण असन्तुष्ट से उठे हैं, कभी न कभी वाञ्छित सन्तुलन पाकर हम एक समान सुखी हो जायँगे। किन्तु सम्पूर्ण सुख-सुविधाएँ पा जाने पर भी मनुष्य के हृदय में कहीं न कहीं कोई न कोई अतृप्ति या कसक बनी रहेगी, अन्यथा मनुष्य जी कैसे सकेगा? मनुष्य अपने जीवन में अभाव और अतृप्ति लेकर ही तो जीवित है, अन्यथा उसका स्पन्दन कभी ही रुक जाय। आज की जिन सामाजिक और राजनीतिक अव्यवस्थाओं के कारण जीवन में असन्तोष का स्वर भर उठा है, कभी न कभी उसका विलय हो जायगा। तब हमारे सुखदुख ये नहीं रह जायँगे जो हमारे काव्य में करुणा और मधुरता के रस बनकर बह रहे हैं। समाजवाद के संसार में भी कहीं न कहीं वैयक्तिक रूप से किसी नवीन अतृप्ति या अभाव का रह जाना सम्भव है, उसी के द्वारा हमारे काव्य में फिर एक नया रोमान्टिसिज्म आयेगा। उसे न हो हम भविष्य का

समाजवादी छायावाद कह लें। मनुष्य स्वर्ग ही क्यों न पा जाय, उसके एकान्त जगत् में कोई न कोई अतृप्ति या कसक बनी रहेगी। इसी अभावात्मक चित्तवृत्ति को भक्त कवियों ने परमात्म-बोध दे दिया था। महादेवी उसी शाखा की कवयित्री हैं।

युग की दिशा में प्रगतिशील होते हुए भी पन्त संस्कृति की ओर उदासीन नहीं हैं, बल्कि संस्कृति ही उनके युग का सम्पूर्ण निर्माण है। 'ज्योत्स्ना' और 'युगवाणी' इसका प्रमाण है।

दूसरी ओर महादेवी संस्कृति की ओर उन्मुख होते हुए भी युग की प्रगतिशीलता को स्वीकार करती हैं। किन्तु उनका कथन यह है—(अभी तो) 'वास्तव में हमने जीवन को उसके सक्रिय संवेदन के साथ न स्वीकार करके एक विशेष बौद्धिक दृष्टिकोण से छू भर दिया है। इसी से जैसे यथार्थ से साक्षात् करने में असमर्थ छायावाद का भावपक्ष में पलायन सम्भव है उसी प्रकार यथार्थ की सक्रियता स्वीकार करने में असमर्थ प्रगतिवाद का चिन्तन में पलायन सहज है। और यदि विचार कर देखा जाय तो जीवन से भावजगत् में पलायन उतना हानिकर नहीं जितना जीवन से बुद्धिपक्ष में पलायन, क्योंकि एक हमारे कुछ क्षणों को गतिशील कर जाता है और दूसरा हमारा सम्पूर्ण सक्रिय जीवन माँग लेता है।"

"यदि इन सब उलझनों को पार कर हम पिछले और आज के काव्य के एक विस्तृत धरातल पर उदार दृष्टिकोण से परीक्षा

करें तो हमें दोनों में जीवन के निर्माण और प्रसाधन के सूक्ष्म तत्त्व मिल सकेंगे। जिस युग में कवि के एक ओर परिचित और उत्तेजक स्थूल था और दूसरी ओर आदर्श और उपदेश-प्रवण इतिवृत्त, उसी युग में उसने भावजगत् और सूक्ष्म सौन्दर्य्य-सत्ता की खोज की थी। आज वह भावजगत् के कोने कोने और सौन्दर्य्यगत चेतना के अणु-अणु से परिचित हो चुका है अतः स्थूल व्यक्त उसकी दृष्टि को विराम देगा। यदि हम पहले मिली सौंदर्य्य-दृष्टि से आज की यथार्थ-सृष्टि का संयोग कर सकें, पिछली सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें और पिछली सूक्ष्म चेतना की व्यापक मानवता में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकें तो जीवन का सामञ्जस्य-पूर्ण चित्र दे सकेंगे। परन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के समान कविता का भविष्य भी अभी अनिश्चित ही है। पिछले युग की कविता अपनी ऐश्वर्य-राशि में निश्चल है और आज की प्रतिक्रियात्मक विरोध में गतिवती। समय का प्रवाह जब इस प्रतिक्रिया को स्निग्ध और विरोध को कोमल बना देगा तब हम इनका उचित समन्वय कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।"

पीछे हम देख चुके हैं कि पन्त की प्रगति भी समन्वय की ओर है। किन्तु पन्त और महादेवी के समन्वय के माध्यम में अन्तर है; पन्त का माध्यम लौकिक सौन्दर्य्य (भूतवाद) है, महादेवी का माध्यम अलौकिक वेदना (अध्यात्मवाद)। यहाँ महादेवी की काव्य-तरलता

को वस्तुजगत् के स्पर्श से कुछ ठस हो जाने की आवश्यकता जान पड़ती है तो पन्त की वाणी को वेदना से कुछ तरल हो जाने की। इस प्रकार जीवन और कला को दोनों एक सम्यकता प्रदान कर सकेंगे। महादेवी के गीतिकाव्य और पन्त के वस्तुकाव्य के समन्वय से हिन्दी-कविता को एक नई काव्यकला मिल सकती है।

जो करुणा महादेवी की कविता (भाव-पक्ष) का प्राण है, वही पन्त की सृष्टि (लोक-पक्ष) में भी जीवन-मूरि है—

"चिर पूर्ण नहीं कुछ जीवन में
अस्थिर है रूप-जगत का मद,
बस आत्मत्याग जीवन-विनिमय
इस संधि जगत में है सुखप्रद

करुणा है प्राण-वृन्त जग की,
अवलंबित जिस पर जग जीवन,
भर देती चिर स्वर्गिक करुणा
जीवन का खोया सूनापन।
करुणा रंजित जीवन का सुख,
जग की सुन्दरता अश्रुस्नात,
करुणा ही से होते सार्थक
ये जन्म-मरण सन्ध्या-प्रभात।"

—('युगवाणी')

किन्तु पन्त ने आज मनुष्य की अस्तित्व-रक्षा के लिए तात्कालिक कर्त्तव्य को ही प्रमुखता से आगे उपस्थित किया है। अभी तो मनुष्य विषम विष से मूर्च्छित है, वह सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही की ओर से बेसुध है। उसमें स्थूल चेतना आ जाने पर वह सूक्ष्म चेतना को भी ग्रहण करने में समर्थ हो सकेगा। समाजवादी मनुष्य स्वस्थ मन से छायावाद को ग्रहण कर सकेगा।

जीवन का वर्तमान संघर्ष शाश्वत नहीं है, इसका कभी न कभी अन्त होगा, उस प्रकृतिस्थ भविष्य का स्वप्न भी पन्त के पलकों में है—

मौन रहेगा ज्ञान,
स्तब्ध निखिल विज्ञान!
क्रान्ति पालतू पशु-सी होगी शान्त
तर्क, बुद्धि के वाद लगेंगे भ्रांत।
राजनीति औ' अर्थशास्त्र
होंगे संघर्ष-परास्त।

धर्म, नीति, आचार—
रुँधेगी सबकी क्षीण पुकार!
जीवन के स्वर में हो प्रकट महान
फूटेगा जीवन रहस्य का गान।

क्षुधा, तृषा औ' स्पृहा, काम से ऊपर,
जाति, वर्ग औ' देश, राष्ट्र से उठकर
जीवित स्वर में, व्यापक जीवन गान
सद्य करेगा मानव का कल्याण।

—('युगवाणी')

पन्त केवल क्रान्तमुख नहीं, शान्तमुख भी हैं। श्री शिवदान-सिंह चौहान के शब्दों में—"क्रान्ति की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करनेवाली काव्यधारा में भी दो प्रवाह हैं, एक है जिसका नेतृत्व भगवतीचरण वर्मा और दिनकर कर रहे हैं, दूसरा है जिसके अभी एकमात्र प्रवर्तक-समर्थक पन्त हैं।"

पन्त क्रान्ति और शान्ति दोनों चाहते हैं, संहार और सृजन दोनों को युग-वाणी दे रहे हैं। दिनकर और भगवतीचरण जीवन की कोई मूर्तिमत्ता नहीं दे रहे हैं, वे प्रायः आवेशपूर्ण हैं। पन्त उन्मेषपूर्ण हैं और जीवन की मूर्त्तिमत्ता दे रहे हैं; उनमें कलाकारिता है।

पन्त काव्य से गीत-गद्य की ओर आये, महादेवी गीत से गद्य की ओर आ गई हैं। अपने संस्मरणों में उन्होंने वस्तुजगत् को करुणा की वाणी दे दी है। गीतिकाव्य में उन्हें जिस सुदृढ़ आधार की आवश्यकता थी, उसे उन्होंने अपने इन लोकचित्रों में पा लिया है। हाँ, समाज के आसुओं को उन्होंने अपनी वेदना से अपना लिया है, किन्तु राजनीतिक असन्तोषों को काव्य बनाकर

देने का प्रयत्न उन्हें अभीष्ट नहीं जान पड़ता। उनका कहना है—"विचारों के प्रसार और प्रचार के अनेक वैज्ञानिक साधनों से युक्त युग में, गद्य का उत्तरोत्तर परिष्कृत होता चलनेवाला रूप रहते हुए, हमें अपने केवल बौद्धिक निरूपणों और वादविशेष सम्बन्धी सिद्धांतों के प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं रही। चाणक्य की नीति वीणा पर गाई जा सकती है, परन्तु इस प्रकार वह न नीति की कोटि में आ सकती है और न गीति की सीमा में, इसे जानकर ही इस बुद्धिवादी युग को हम कुछ दे सकेंगे।" यहाँ यह निवेदना करना है कि चाणक्य की नीति भी अन्तरद्रवित होकर काव्य का रस बन सकती है। राष्ट्रीय कविताएँ राजनीतिक भावप्रवणता ही तो हैं।

किन्तु पन्त के शब्दों में स्थिति आज यह है कि मनुष्य भाव-प्रवण नहीं रह सकता—

अपने मधु में लिपटा पर
कर सकता मधुप न गुञ्जन,
करुणा से भारी अन्तर
खो देता जीवन-कम्पन।
—('गुञ्जन')

हम देखते हैं कि आज जीवन गद्यमय ही हो गया है। क्या वह फिर कभी काव्य की ललित संज्ञा नहीं ग्रहण करेगा?—

कालाकाँकर में एक दिन मैंने पन्तजी से पूछा था—तो क्या आपका अभिप्राय यह है कि आज की अशान्तियों का समाधान करके भविष्य में मनुष्य अधिक तृप्ति से गा सकेगा? पन्तजी ने कहा—तब मनुष्य बोलना छोड़ देगा, वह गाना ही गाता रहेगा। अर्थात् मनुष्य का गद्य-कठोर जीवन भविष्य में संगीत-मय हो जायगा।

निःसंदेह उसी दिन पन्त का कलाकार अपने कवि को जगाकर एक बार फिर कहेगा—

स्वस्ति, जीवन के छाया काल!
सुप्त स्वप्नों के सजग-सकाल!
मूक मानस के मुखर-मराल!
स्वस्ति, मेरे कवि बाल!

शुद्धि—पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित	संशोधित
१२	६	नवजाल	नवजात
१६	५	बोजार	बीजाङ्कुर
३६	२१	साहत्यि	साहित्य
७२	१	समुद्र	समुद्र के
७३	११	ग्रामो-द्धार	ग्रामोद्धार
७७	२०	ही	हो
९७	६	निर्णयक	निर्णायक
१००	७	अमवा	अथवा
१०३	८	की	कि
१०४	२१	वसर्जित	विसर्जित
११०	१४	चाहते	चाहते थे
१३१	१२	विरोधी	विरोध
१४१	१	चट	चोट
१४१	१	जीवन का	जीवन (को)
१४२	१८	इन दिनों	इन दोनों
१४९	१५	प्रसिद्ध	प्रसिद्धि
१५०	१६	मांडल	मॉडल
१५१	१२	काग्न्तिारी	क्रांतिकारी
१५५	६	समाजवादी	समाजवाद
१५९	५	आदेश	आवेश
१६८	१८	लाने	लाने के

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित	संशोधित
१८१	६	उस	उन
२१२	३	उसे	उसके
२२९	२	मानो	मनो
२५७	१४	गान्धोजो	गान्धोजी के
२८४	२०	मूल्य	मूल
२८९	२०	दृष्टी	दृष्टि
३९४	१३	साँच	साँचों
३१४	१६	भाव-परख	भाव-परक
३४०	५	संचिप्त	संक्षिप्तकिरण है।
३४१	२०	वनीत	नवनीत
३४४	१५	पुरानो	पुराने
३५१	८	से	हो

—पृष्ठ १०३ का फुटनोट १०४ के नीचे चला गया है, उसे यथास्थान पढ़ना चाहिए।